उन्नीसवीं शताब्दी के निबन्ध साहित्य में लोक जागरण का स्वरूप

(इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद की डी. फिल. (हिन्दी) उपाधि के लिए प्रस्तुत)

शोध—प्रबन्ध
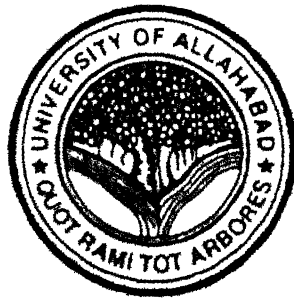
निर्देशक
प्रो0 मालती तिवारी
प्रोफेसर एवं पूर्व विभागाध्यक्ष
हिन्दी विभाग
इलाहाबाद विश्वविद्यालय,
इलाहाबाद

प्रस्तुति
रामचन्द्र
हिन्दी विभाग
इलाहाबाद विश्वविद्यालय
इलाहाबाद

इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

दिसम्बर 2001

अनुक्रमणिका

प्राक्कथन

आधुनिक भारत के इतिहास में उन्नीसवीं शताब्दी अत्यन्त महत्वपूर्ण है। यह शती एक ऐसा सन्धिकाल है जहाँ से भारतीय जीवन और समाज में नये परिवर्तनों की परम्परा आरम्भ हो जाती है। 19वीं सदी का पूर्वार्द्ध ईस्ट इण्डिया कम्पनी के विस्तार और प्रसार का काल था जिस अवधि में भारत की समस्त रियासतें समाप्त हो गयीं और कम्पनी को इस देश की सार्वभौम सत्ता के रूप में मान्यता प्राप्त हो गयी। अंग्रेजों ने यहाँ अपने प्रशासन के अनुकूल अनेक पुरानी रीतियों और प्रणालियों में परिवर्तन किये जिनके परिणाम कुछ तो अच्छे रहे, लेकिन कुछ ने भारतीय जनता में असन्तोष भी उत्पन्न कर दिया जिसकी चरम अभिव्यक्ति 1857 के विद्रोह में हुई। इस विद्रोह के बाद कम्पनी का शासन समाप्त कर दिया गया और उसके स्थान पर ब्रिटिश क्राउन का शासन भारत में स्थापित हुआ। 19वीं सदी का उत्तरार्द्ध सामाजिक, राजनीतिक एवं धार्मिक क्षेत्र में परिवर्तन का प्रतीक है। इस सदी के आरम्भ से पाश्चात्य संस्कृति, शिक्षा और प्रशासन से देश में जिस परिवर्तन की प्रक्रिया आरम्भ हुई उसकी परिणति हमें सदी के उत्तरार्द्ध में देखने को मिलती है। भारत की आधुनिक राष्ट्रीयता के अंकुर भी इसी काल में फूटे तथा साहित्य, समाज , धर्म आदि सभी अंगों पर इस प्रक्रिया का प्रभाव पड़ा। भारत जो उन्नीसवीं सदी के आरम्भ में मध्ययुगीन तत्वों से समन्वित था वह सदी के उत्तरार्द्ध में नयी चेतना से प्रभावित होकर आधुनिक भारत कि निर्माण के लिए अग्रसर होने लगा। सामाजिक- धार्मिक सुधार आन्दोलनों ने इस प्रक्रिया में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई।

साहित्य अपने युग की चेतना से प्रभावित एवं प्रेरित होता है। यह युग चेतना का ही प्रभाव है कि रीतिकालीन हिन्दी साहित्य जहा सामान्य जनजीवन से पूरी तरह कटा हुआ है वहीं उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध का विशेष रूप से भारतेन्दु युगीन- हिन्दी साहित्य मानवेतर एवं अभिजात वर्गीय शक्तियों से अपना नाता तोड़कर सामान्य इन्सान के जीवन तथा समस्याओं से पूरी तरह जुड़ जाता है। साहित्य के सन्दर्भ में यह एक युगान्तरकारी घटना है। इसी क्रम में खड़ी बोली गद्य का आविर्भाव एवं प्रसार होता है। साहित्य की अनेक नई विधाएँ अस्तित्व में आती हैं और इन विधाओं के

माध्यम से भारतीय जनता के समग्र जागरण का एक आन्दोलन चल पड़ता है। इस आन्दोलन में हिन्दी पत्रकारिता की उल्लेखनीय भूमिका रही है। गद्य साहित्य की दो विधाओं- निबंध और नाटक को इस युग में विशेष लोकप्रियता प्राप्त हुई। इस युग का निबंध साहित्य तो इतना सम्पन्न है कि इतनी विविधता और इतनी सजीवता परवर्ती किसी युग के निबन्ध साहित्य में दृष्टिगत नहीं होती।

एम0ए0 में अध्ययन के दौरान उन्नीसवीं शताब्दी के निबन्धों में मेरी विशेष रुचि जागृत हुई। इसी के परिणामस्वयप मैंने उन्नीसवीं शताब्दी के निबन्धों पर शोध करने का निर्णय किया। इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद की डी0फिल्0 उपाधि के लिए प्रस्तुत इस शोध-प्रबंध में लोकजागरण की दृष्टि से उन्नीसवीं शताब्दी के निबंधों का आलोचनात्मक मूल्यांकन किया गया है। यह शोध-प्रबंध छः अध्यायों में विभाजित है।

प्रथम अध्याय 'लोक जागरण: सन्दर्भ, अर्थ, परिभाषा' है। इसमें इतिहास के सन्दर्भ से एक रूपरेखा प्रस्तुत करते हुए लोकजागरण की व्याख्या की गयी है। लोकजागरण किन परिस्थितियों में होता है? किन कालों में प्रमुख रूप था? (यथा-भक्तिकाल) तथा कुछ कालों में लोकजागरण क्यों नहीं हुआ? (यथा-रीतिकाल में) आदि विवेचन- विश्लेषण के मुख्य बिन्दु रहे हैं। इसी क्रम में भक्ति आन्दोलन के उदय के सन्दर्भ में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल और आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के मतों का तुलनात्मक विवेचन किया गया है।

शोध-प्रबंध का दूसरा अध्याय "उन्नीसवीं सदी: लोकजागरण की भूमिका और उसका हिन्दी साहित्य पर प्रभाव" है। इसमें उन्नीसवीं शताब्दी में हुए सामाजिक-धार्मिक, आर्थिक एवं राजनीतिक परिवर्तनों का विश्लेषण किया गया है। इसी क्रम में लोकजागरण के सामाजिक-धार्मिक एवं राजनीतिक आधारों की विस्तृत व्याख्या की गयी है। विभिन्न सुधार आन्दोलनों एवं महत्वपूर्ण व्यक्तियों की भूमिका का भी इसी सन्दर्भ में मूल्यांकन किया गया है। आगे उन्नीसवीं शताब्दी के लोकजागरण का स्वरूप स्पष्ट

करते हुए यह दिखालया गया है कि वह पुनर्जागरण से किन मायनों में भिन्न है। लोकजागरण का हिन्दी साहित्य पर क्या प्रभाव पड़ा? इसका भी मूल्यांकन किया गया है।

शोध-प्रबंध का तीसरा अध्याय - "उन्नीसवीं शताब्दी के निबंध साहित्य में लोकजागरण का सामाजिक संदर्भ" है। इस अध्याय में सामाजिक-धार्मिक कुरीतियों, रूढ़ियों एवं अंधविश्वासों के सन्दर्भ में निबंधकारों की क्रान्तिकारी दृष्टि का मूल्यांकन किया गया है। इस युग के लगभग सभी निबंधकार सामाजिक-धार्मिक कुरीतियों एवं अंधविश्वासों को दूर कर भारतीय समाज को आधुनिक प्रगतिशील एवं सम्पन्न बनाना चाहते थे।

शोध प्रबंध का चौथा अध्याय- "उन्नीसवीं शताब्दी का लोक जागरण और उसका राष्ट्रीय स्वरूप" है। इस अध्याय में लोक जागरण के राष्ट्रीय स्वरूप की दृष्टि से उन्नीसवीं शताब्दी के अनेक निबंधकारों के निबंधों की समीक्षा की गयी। साम्प्रदायिकता का विरोध, हिन्दू मुस्लिम ऐक्ट, अंग्रेजों द्वारा भारतीय का आर्थिक शोषण, धन-निकासी स्वदेशी स्वीकार एवं विदेश बहिष्कार, तकनीकी शिक्षा, भारतीय राजे-महाराजों की सत्ता लोलुपता एवं अंग्रेजों की चाटुकारिता करने की प्रवृत्ति, पाश्चात्य सभ्यता एवं संस्कृति का अंधानुकरण, भारत की दरिद्रता, अकाल एवं महामारी तथा राष्ट्रीय जागरण में हिन्दी की भूमिका आदि निबन्धों की समीक्षा के मुख्य आधार रहे हैं। '

पॉचवॉ अध्याय- "उन्नीसवीं शताब्दी का लोक जागरण और उसका साहित्यिक स्वरूप: निबन्ध विधा के विशेष सन्दर्भ में" है। इस अध्याय में उन्नीसवीं शताब्दी के लोकजागरण का हिन्दी निबंध साहित्य पर पडने वाले प्रभाव का मूल्यांकन किया गया है। इसी क्रम में विभिन्न निबंधकारों की भाषा एवं शिल्प की आलोचनात्मक समीक्षा की गयी है।

छठॉ अध्याय 'उपसंहार' है।

अन्त में मैं सबसे पहले प्रो0 मालती तिवारी के प्रति आभार प्रकट करता हूँ जिन्होंने इस विषय पर शोध कार्य करने की अनुमति प्रदान की। उनके कुशल मार्गदर्शन ने इस विषय पर शोध करने के लिए मुझे जो दृष्टि प्रदान की उसी के बल पर आज यह शोध प्रबंध पूर्ण हो सका है। उनका मातृवत स्नेह चरम निराशा के क्षणों में मुझे संबल प्रदान करता रहा है। उनके प्रति आभार-प्रदर्शन मात्र औपचारिकता होगी। मैं हिन्दी विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद के अन्य आचार्यों प्रो0 राम स्वरूप चतुर्वेदी, श्री दूधनाथ सिंह, प्रो0 सत्य प्रकाश मिश्र एवं प्रो0 राजेन्द्र कुमार के प्रति आभार प्रकट करना चाहता हूँ जिन्होंने समय-समय पर मुझे विषय से सम्बन्धित मूल्यवान सुझाव दिया। मैं प्रो0 मैनेजर पाण्डेय, प्रोफेसर एवं पूर्व अध्यक्ष, भारतीय भाषा विभाग, जवाहर लाल नेहरू विश्वविद्यालय नई दिल्ली का भी आभारी हूँ जिन्होंने मुझे महत्वपूर्ण सुझाव दिया।

इस शोध प्रबंध हेतु सामग्री का चयन करने के लिए मैंने, दिल्ली, वाराणसी एवें पटना आदि का भ्रमण किया। दिल्ली में मैंने साहित्य अकादमी, केन्द्रीय हिन्दी निदेशालय एवं जे0एन0यू0 के पुस्तकालयों में अध्ययन किया। इसी प्रकार वाराणसी में नागरी प्रचारिणी सभा, पटना में खुदाबख्श तथा इलाहाबाद में हिन्दी साहित्य सम्मेलन आदि के पुस्तकालयों में अध्ययन किया। इनके कर्मचारियों के प्रति भी मैं आभारी हूँ जिन्होंने समय-समय पर मुझे सुविधा एवं सहयोग प्रदान किया।

मेरे पितामह स्व0 श्री राम प्रताप चौधरी की प्रेरणा एवं स्नेहाशीष ने मुझे सदैव ओत-प्रोत किया। उनके प्रति आभार प्रदर्शन मात्र औपचारिकता होगी। मुझे इस बात का अत्यन्त दुःख है कि उनके जीवित रहते मैं यह शोध-प्रबंध पूर्ण न कर सका। मैं अपने दादा श्री केदार नाथ चौधरी एवं दादी का हृदय से आभारी हूँ जिनका स्नेह एवं आशीर्वाद मुझे हमेशा मिलता रहा है। मेरे चाचा श्री राजमणि वर्मा (विज्ञान अध्यापक) एक आदर्श शिक्षक के सभी गुणों से परिपूर्ण हैं। उनके आदर्शों एवं अध्यापन के प्रति उनकी कर्तव्यनिष्ठा से मैंने जीवन में काफी कुछ सीखा है। उनका स्नेह, सहयोग एवं आशीर्वाद मुझे हमेशा मिलता रहा है जिससे मेरे जीवन के चरम अंधकार के क्षण भी

आलोकित होते रहे हैं। उनको धन्यवाद देने की धृष्टता मैं नहीं कर पाऊँगा। मेरे पूज्यनीय पिता श्री देवमणि वर्मा एवं पूज्यनीया माता श्रीमती सुदामा वर्मा ने निरन्तर मुझे साहस एवं बल प्रदान किया है। जिससे इस गुरुतर कार्य में मैं कभी निराश नहीं हुआ। मेरी चाची का स्नेह एवं आशीर्वाद भी मुझे हमेशा मिलता रहा है। मैं उनके प्रति भी आभार प्रकट करता हूँ। अग्रज श्री लल्लन प्रसाद वर्मा (जिला विकास अधिकारी) का भी मैं हृदय से आभारी हूँ जिन्होंने समय-समय पर मुझे सहयोग एवं संबल प्रदान किया। अपने मित्रों- सुरेन्द्र चौधरी, सुरेश, राकेश, देवेन्द्र , घनश्याम बिड़ला एवं दीपेन्द्र नाथ चौधरी (डिप्टी एस0पी0)- आदि के प्रति मैं हृदय से आभारी हूँ, जिन्होंने इस कठिन कार्य के लिए मेरा मनोबल बढ़ाया एवं सहयोग प्रदान किया। अपने छोटे भाइयों- सुभाष, प्रेमचन्द्र, ईश्वर चन्द्र, संजय एवं बहनों- प्रेमशीला एवं सुषमा का भी मैं आभारी हूँ जिन्होंने अपना स्नेह एवं सहयोग प्रदान कर इस कठिन कार्य में मुझे कभी निराश नहीं होने दिया । छोटी बहन सुषमा के साथ मधुर झड़प परिस्थिति की गम्भीरता को कम कर निराशा के क्षणों को आनन्दमय बनाता रहा है। मेरी पत्नी श्रीमती निशा वर्मा ने निरन्तर इस कठिन कार्य के प्रति मेरी संलग्नता को महत्व दिया एवं मेरे भतीजे जैनेन्द्र वर्मा की बालसुलभ गतिविधियों ने मुझे सदैव प्रसन्न रखा अतः मैं इनका भी हृदय से आभारी हूँ।

अन्त में मैं अपने उन समस्त गुरुजनों के प्रति हार्दिक सम्मान एवं आभार प्रकट करता हूँ जिन्होंने ठोंक-पीट कर मुझे इस योग्य बनाया कि मैं शोध जैसे गुरुतर एवं दुरूह कार्य को सम्पन्न कर सकूँ। इस सन्दर्भ में मैं अपने प्राथमिक विद्यालय के शिक्षक श्री राम बहाल यादव का विशेष रूप से आभारी हूँ।

मैं श्री राम राज पाण्डेय जी का भी हृदय से आभारी हूँ जिन्होंने यथासमय टंकित कर शोध प्रबंध को प्रस्तुत करने योग्य बनाया।

यदि प्रस्तुत शोध-प्रबंध हिन्दी पाठकों व शोधार्थियों के लिए लेशमात्र भी उपादेय सिद्ध हो सका तो मैं अपना प्रयास सार्थक समझूँगा।

राम चन्द्र
30-12-2001

अध्याय- प्रथम

लोकजागरण: सन्दर्भ, अर्थ, परिभाषा

लोक जागरणः सन्दर्भ, अर्थ, परिभाषा

'लोक' शब्द अत्यन्त व्यापक और चेतना का वाहक है। लोक की सीमायें ग्राम या देहात या साधरण जन तक ही सीमित नहीं है- बल्कि समस्त चराचर जगत ही 'लोक' है। या यों कह लें कि वह सारा लोक है, जो परलोक नहीं है। 'लोक' शब्द जन जीव तथा स्थान के रूप में प्रयुक्त हुआ है।[1] वेद, उपनिषद, पाणिन की अष्टाध्यायी, भरतमुनि के नाट्यशास्त्र, महर्षि व्यास की शतसहस्रसंहिता आदि में 'लोक' शब्द का प्रयोग मिलता है। शब्दकोषों में 'लोक' इहलोक, परलोक, त्रिलोक के अर्थ में स्वीकार किया गया है।[2]

'लोक' शब्द संस्कृत के 'लोकृ दर्शने' धातु के 'धञ' प्रत्यय करने पर निष्पन्न हुआ है।[3] इस धातु का अर्थ 'देखना' होता है जिसका लट् लकार में अन्य पुरुष एक वचन का रूप 'लोकते' है। अतः 'लोक' शब्द का अर्थ हुआ 'देखने वाला'। इस प्रकार वह समस्त जन समुदाय जो इस कार्य को करता है 'लोक' कहलाएगा। भगवद्गीता में 'लोक' तथा 'लोकसंग्रह' आदि शब्दों का प्रयोग अनेक स्थानों पर किया गया है। भगवान श्रीकृष्ण ने 'लोक-संग्रह' पर बड़ा बल दिया है। वे अर्जुन को उपदेश देते हुए कहते हैं-

> कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः।
> लोकसंग्रहमेवापि संपश्यन् कर्तुमर्हसि।।[4]

यहाँ लोक संग्रह का अर्थ साधारण जनता का आचरण, व्यवहार तथा आदर्श है अर्थात् प्रकारान्तर से 'लोक' का अर्थ साधारण जनता है।

संत साहित्य में 'लोक' शब्द का प्रयोग परलोक एवं इहलोक के अतिरिक्त जन सामान्य के अर्थ में भी हुआ है-

---

1- ऋग्वेदः 3/53/12/पुरुष सूक्त।

2- विश्व हिन्दी शब्द कोषः धीरेन्द्र वर्माः लोकः पृष्ठ 683

3- सिद्धान्त कौमुदी (वेंकटेश्वर प्रेस बम्बई, 1989), पृष्ठ 417

4- गीताः 3/20

लोक वेद कुल की मरजादा, इहै गले मैं पासी।[1]

लोका जानि न भूलो भाई।

खालिक खलक खलक मैं खालिक, सब घट रह्यौ समाई।।[2]

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के शब्दों में "सन्त साहित्य में सन्त कवियों ने 'लोक' शब्द का प्रयोग 'जन सामान्य' के लिए किया है। वास्तव में लोक शब्द साहित्य के द्वारा लोकमानस की स्थिति को स्पष्ट करता है।"[3]

सूर तथा तुलसी के काव्य में 'लोक' शब्द का प्रयोग इहलोक, परलोक, लोग, जन आदि अर्थों में हुआ है-

सबसे परम मनोहर गोपी।

नन्द नन्दन के नेह मेह जिन लोक लीक लीपी।।

तुलसी-

भरत विनय सादर सुनिय करिय बिचार बहोरि।

करब साधुमत, लोकमत नृपनय निगम निचोरि।।[4]

यहाँ 'लोकमत' से 'जनमत' का ही बोध होता है।

विद्वानों ने 'लोक' शब्द की तुलना अंग्रेजी के 'फोक' (FOLK) शब्द से किया है। सन् 1953 में प्रकाशित 'इनसाइक्लोपीडिया बिटैनिका' में 'फोक' शब्द का अर्थ, ग्रामीण जनसमुदाय किया गया है जिसमें कृषक आदि ग्रामवासी सम्मिलित हैं। किसी आदिम समाज में उसके सभी सदस्य लोक हुआ करते हैं। विस्तृत अर्थ में इस शब्द का प्रयोग किसी सभ्य राष्ट्र की सम्पूर्ण, जनसंख्या के लिए किया जा सकता है। किन्तु साधारण व्यवहार में पश्चिमी प्रणाली की सभ्यता के लिए इसका अर्थ संकुचित कर देते हैं। तब इसमें केवल वही लोग माने जायेंगे जो नागरिक संस्कृति तथा विधिवत शिक्षा के प्रभाव से परे हों, जो गांवों में तथा

1- कबीर ग्रन्थावली: संपा० श्याम सुन्दर दास, पेज 98

2- वही : वही पेज 81

3- मध्यकालीन धर्म साधना: हजारी प्रसाद द्विवेदी: इलाहाबाद 1952, पेज-94

4- गोस्वामी तुलसीदास: आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, पेज 38

आस-पास निवास करने वाले निरक्षर या बहुत कम पढ़े-लिखे लोग हों।

अतः स्पष्ट है कि हिन्दी शब्द 'लोक' और अंग्रेजी 'फोक' (FOLK) में तात्विक दृष्टि से पर्याप्त अन्तर है। भारतीय वांगमय में लोक शब्द का प्रयोग सामान्यतः जन सामान्य के अर्थ में हुआ है जबकि अंग्रेजी 'फोक' शब्द से समाज के अपेक्षाकृत पिछड़े, अशिक्षित तथा नागरिक संस्कृति से अछूते लोगों का बोध होता है। अतः कहा जा सकता है कि हिन्दी 'लोक' शब्द की परिधि अंग्रेजी 'फोक' से कहीं व्यापक है।

डा0 हजारी प्रसाद द्विवेदी 'लोक' शब्द को संकुचित अर्थ में न ग्रहण कर व्यापक अर्थ में ग्रहण करते हैं। उनके अनुसार "लोक शब्द का अर्थ जनपद या ग्राम्य नहीं है बल्कि नगरों और गॉवों में फैली वह समूची जनता है जिनके व्यवहारिक ज्ञान का आधार पोथियॉ नहीं हैं। ये लोग नगर में परिष्कृत, रूचि-सम्पन्न तथा सुसंस्कृत समझे जाने वाले लोगों की अपेक्षा अधिक सरल और अकृत्रिम जीवन के अभ्यस्त होते हैं और परिष्कृत रूचि वाले लोगों की समूची विलासिता-सुकुमारिता को जीवित रखने के लिए आवश्यक वस्तुऍ उत्पन्न करते हैं।[1]

'लोक' शब्द को 'वेदेतर संस्कृति' के अर्थ में भी ग्रहण किया जाता रहा है। डा0 श्याम परमार के शब्दों में "आर्यो के आगमन पर आर्येतर जातियों से उनकी मुठभेड़ दो भिन्न संस्कृतियों के संघर्ष के रूप में व्यक्त हुई। फलस्वरूप 'वेद' और 'वेदेतर' स्थिति प्रकट हुई। इससे एक अन्य अर्थ की उद्भावना भी सहज ही हो गयी, जिसके अनुसार 'लोक' का दूसरा अर्थ वेद विरोधी अर्थात् वेदेतर हुआ। 'लोक' की भिन्नता ने वेद की प्रतिष्ठा के साथ 'लोक' के स्वतंत्र महत्त्व को क्रमशः स्वीकार किया। किन्तु आज 'लोक' वेदेतर संस्कृति के संकुचित अर्थ से ऊपर उठ चुका है। उसकी भावना वैदिक और अवैदिक दोनों वर्णो को सहज रूप से छूने लगी है। वह परम्परा का सहेजक एवं अनुभूति की संवेदनापूर्ण अभिव्यक्ति का सतत्

1- विचार एवं वितर्क : डा0 हजारी प्रसाद द्विवेदी : 1954 (नवीन संस्करण), पृष्ठ- 206

संवाहक है। ..... वस्तुतः जिसे संस्कृति की संज्ञा दी जाती है वह 'लोक' से भिन्न नहीं है। इसका उत्स 'लोक' ही है।"[1]

लोक के अर्थ को अब बंधे-बंधाये दायरे में लेना ठीक नहीं है। यह भी गलत है कि उसमें परिवर्तन की गुंजाइश कभी नही रही ~~कि उसमें परिवर्तन की गुंजाइश कभी नहीं रही~~ या कि उसमें सांस्कृतिक चेतना काम नहीं करती। सच तो यह है कि आज जो कुछ भी हम देख-सुन रहे हैं, उसका स्रोत 'लोक' ही है। यहाँ तक कि वेद, पुराण और उपनिषद् भी लोक सृजन के अन्तर्गत ही आते हैं। 'लोक' में व्यक्ति सत्ता और विश्व चेतना दोनों सम्मिलित है। यह शब्द अपनी हजारों वर्षों की यात्रा के बाद भी **जीवन्त समाज** की एक विराट कल्पना को अपने भीतर सन्निहित किए हुए है।

जागरण

मनोविज्ञान की दृष्टि से मानव मन पाँच स्थितियों में संलग्न रहता है। जागृत, सुषुप्ति, चेतन, अचेतन एवं अवचेतन। मनुष्य विवेक का आश्रय लेकर अगर कोई कार्य सम्पादित करता है तो उसको चैतन्य कहते हैं। पराविज्ञान की दृष्टि से जीव पाँच अवस्थाओं के बाद पूर्णरूपेण जागृत होता है- वह है- जड़, क्षिप्त, विक्षिप्त, एकाग्र एवं चैतन्य। चैतन्य अवस्था ही पूर्ण जागरण की अवस्था है। प्रत्येक मनुष्य के भीतर अथाह शक्ति स्रोत है। जीव स्वभावतः अज्ञान निद्रा में सोता रहता है। जीव को जड़ता से जागृत करने के लिए चेतना का दीप जलाना आवश्यक होता है। चेतना के प्रकाश से ही तम का नाश होता है। मनुष्य अपनी वास्तविक शक्ति से अपरिचित रहता है। उसको चैतन्य पुरुष ही जागृत करता है। मानव की अन्तर्निहित शक्ति का जागृत होना ही जागरण है। यह जागरण विचार के स्तर पर ही हो सकता है। विचार की सुषुप्ति या जड़ता कर्मों पर असर डालती है। मनुष्य त्रिगुण सम्पन्न होने के कारण, परिस्थितियों का गुलाम हो जाता है। वैसी परिस्थिति में सद्विचारों को प्रसारित करना ही संतों का परम दायित्व होता है। मनुष्य को अज्ञान, निद्रा से त्यागी संत ही जगा

1- भाषा द्वैमासिक (पत्रिका) सितम्बर-अक्टूबर, 1992 पृष्ठ-14

सकता है। गीता में भगवान कृष्ण ने कहा है-

या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी।

यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः।।[1]

सत्य का पूर्ण आभास तब तक नहीं होता जब तक व्यक्ति की चेतना सक्रिय न हो। विवेक के अभाव में चेतना के ऊपर तम-आवरण पड़ा रहता है। इस आवरण का नाश होने पर ही जागरण सम्भव है। जीवन की अज्ञानता का मुख्य कारण काम, क्रोध, लोभ, मोह, एषणा, कामना, अहं भावना आदि है। अत: सत्य की प्राप्ति के लिए जीवन को इन असद् वृत्तियों का परित्याग करना चाहिए तथा अज्ञानांधकार से जगना चाहिए। अज्ञान निद्रा का अभाव ही जागरण है।

अतः लोकजागरण अपने व्यापक अर्थ में जनजागरण का ही पर्याय है। किसी उत्पीड़ित सामाजिक पहचान के द्वारा अपना ऐसा प्रबल आत्म-रेखांकन-जिसके कारण शाश्वत, बल्कि दिव्य मान ली गयी मान्यताओं, संस्थाओं पर पुनर्विचार और समूचे समाज द्वारा आत्ममंथन का माहौल बन जाय- लोक जागरण की सूचना देता है। जाहिर है कि ऐसा आत्ममंथन तभी उत्पन्न हो सकता है, जबकि उत्पीड़ित सामाजिक पहचान किसी हद तक सामाजिक शक्ति बन चुकी हो और यह सामाजिक शक्ति समाज के वास्तविक सत्तातंत्र को जबर्दस्त चुनौती दे रही हो। जीवन को निर्धारित करने वाले नैतिक और धार्मिक आस्थागत मूल्यों का पुर्नपरीक्षण उसमें से कुछ को स्वीकारना और कुछ को नकारना ही लोकजागरण का लक्ष्य होता है।

लोकजागरण समग्र जागरण है, राष्ट्रीय चिन्तन से व्यक्ति चिंतन तक। भारतीय संस्कृति और परम्पराओं में क्या उत्कृष्ट है और क्या निकृष्ट है? इसका निर्धारण ही लोकजागरण है। पारम्परिक संस्कृतियों की विकृतियों और विसंगतियों को दूर कर तथा परम्परा में जो कुछ भी श्रेष्ठ है, उसे आत्मसात करके 'नये' का समायोजन कर एक समग्र सांस्कृतिक

1- गीता: 2/69

विकल्प के रूप में उभरना ही लोकजागरण है। चूँकि लोकजागरण जन-सामान्य का समग्र जागरण है, अत यह जनसामान्य की भाषा में ही सम्भव है, इसीलिए लोकजागरण का सबसे सशक्त माध्यम हैं- लोकभाषाएं। लोकजागरण अपनी परिधि में जन सामान्य के सामाजिक-धार्मिक, साहित्यिक सांस्कृतिक जागरण को समेटे हुए है।

विभिन्न युगों में लोकजागरण का स्वरूप बदलता रहा है। यदि भक्तिकालीन लोकजागरण में आध्यात्मिकता, आस्था और विश्वास का प्राधान्य था तो उन्नीसवीं शताब्दी के लोकजागरण में तर्क, बुद्धिवाद और विज्ञानवाद का। इन दोनों चरणों का लक्ष्य जन सामान्य को समस्त सामाजिक- धार्मिक एवं आर्थिक शोषण एवं रूढ़ियों से मुक्त कर जाति-धर्म से परे एक समरस समाज की स्थापना करना था और इसी रूप में लोकजागरण के ये दोनों चरण आपस में जुड़े हुए हैं। डॉ० राम विलास शर्मा के अनुसार " भारतेन्दु हरिश्चन्द्र से लेकर सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' तक का साहित्य उसी लोकजागरण का अगला विकास है।"[1]

1- लोक जागरण और हिन्दी साहित्यः संपा० डा० राम विलास शर्मा, पृष्ठ 13

भक्तिकालीन लोकजागरण

भक्ति आन्दोलन से भारतीय समाज तथा संस्कृति की नयी अवस्था का आरम्भ होता है। यह आन्दोलन एक व्यापक सांस्कृतिक आन्दोलन है जिसकी अभिव्यक्ति धर्म, दर्शन, साहित्य, कला और संस्कृति आदि अनेक क्षेत्रों में दिखाई देती है। वास्तव में यह सामंती संस्कृति के विरुद्ध जन संस्कृति के उत्थान का अखिल भारतीय आन्दोलन है। सामन्ती शोषण से जन सामान्य को मुक्ति दिलाने हेतु सन्त एवं भक्त कवियों ने स्तुत्य प्रयास किया। आत्म कल्याण और लोक कल्याण करने वाले कर्मो की ओर जनता को भक्त कवि ले गये। इसलिए भक्तिकाल को लोकजागरण काल कहना उचित होगा।

भक्ति आन्दोलन उस समय आरम्भ हुआ था, जब हिन्दू और मुसलमान पुरोहितों और उनके द्वारा समर्पित और समृद्ध किये गये निहित स्वार्थो के खिलाफ संघर्ष एक ऐतिहासिक आवश्यकता बन गया था। अपने निहित स्वार्थो की पूर्ति हेतु वे दोनों धर्मावलम्बियों को एक दूसरे के विरुद्ध भड़का रहे थे। हिन्दू और मुसलमान , इन दोनों समाजों की धार्मिक एवं व्यावहारिक सभी बातों में आडम्बर बढ़ता जा रहा था। दोनों ही असत्य एवं मिथ्यातत्व के पुजारी होते जा रहे थे। देश में सर्वत्र अस्त-व्यस्तता और विश्रृंखलता फैली हुई थी। ऐसी परिस्थिति में साम्प्रदायिक सौहार्द के बिना जन-जागरण का कोई आन्दोलन सफल नहीं हो सकता था। तत्कालीन परिस्थितियों में साम्प्रदायिक सौहार्द्र तभी सम्भव था जब हिन्दू-मुसलमानों के लिए 'एक सामान्य भक्तिमार्ग' का प्रवर्तन हो तथा मिथ्याडम्बरों का निषेध हो। सर्वप्रथम संतों ने ही ऐसे भक्तिमार्ग की आवश्यकता महसूस की। प्रख्यात आलोचक प्रो0 शंभुनाथ के शब्दों में-

"इसलिए एक ऐसे ईश्वर का अनुभव संत कवियों ने किया, जो मन्दिर और मस्जिद में न होकर किसी 'रिचुअल' में न होकर, योग और वैराग्य में भी न होकर मनुष्य के अन्दर ही वर्तमान है। उसके लिए किसी पाखण्ड और भाग-दौड़ की जरूरत नहीं है।"[1]

1- कबीर (साहित्य और साधना): संपा0 डा0 वासुदेव सिंह पृष्ठ-90

महात्मा कबीर ऐसे भक्तिमार्ग के प्रवर्तक हुए। उन्होंने सभी बाह्याडम्बरों का निषेध कर शुद्ध, सात्विक, हृदय से ईश्वर की आराधना पर बल दिया है। इनके अनुसार ईश्वर किसी मन्दिर या मस्जिद में न होकर स्वयं व्यक्ति के हृदय में स्थित है। अतः उसकी आराधना के लिए मन्दिर-मस्जिद मे जाने की कोई आवश्यकता नहीं है-

मोको कहाँ ढूँढे बन्दे, मैं तो तेरे पास में।
ना मैं देवल ना मैं मस्जिद, ना काबै कैलास में।।

संतों का मार्ग हिन्दू-मुस्लिम एकता का मार्ग था। संतों ने बाह्याडम्बरों का निषेध कर धर्म को उसके वास्तविक एवं जनकल्याणकारी रूप में स्थापित करने का स्तुत्य प्रयास किया। इसीलिए उन्होंने सहज भक्ति का प्रतिपादन किया जिसमें 'प्रेम' तत्व की प्रधानता थी। संतों के नाम सुमिरन को महत्ता प्रदान की तथा वर्ण-व्यवस्था एवं जाति-पाँति का विरोध किया और भक्ति का द्वार सबके लिए खोल दिया। यद्यपि तुलसीदास आदि भक्त कवि अपने मानवतावादी रुझानों के बावजूद वर्ण-व्यवस्था की खुलकर उपेक्षा नहीं कर सके किन्तु इन्होंने भी गरीबों-दलितों के लिए राम-भक्ति का रास्ता सुगम बनाया। बाह्याचार की तुलना में नाम सुमिरन की की महत्ता का प्रतिपादन तुलसी ने भी किया है, उन्होंने रूप की अपेक्षा नाम को श्रेष्ठ बताया- "ब्रह्म राम ते नाम बड़" अर्थात निर्गुण भाव से भजन किया गया हो या सगुण भाव से, नाम की महिमा में कोई सन्देह नहीं है।

भक्तिकाल की कविता में सामाजिक चेतना और युगबोध का स्तर ऐसा है जहाँ संवेदनशील कवि की चेतना सामाजिक विषमता, पाखण्ड, धार्मिक रूढ़िवाद और जनता की पीड़ित चेतना के बोध से बेचैन दिखाई देती है। कबीर की सामाजिक चेतना में उस युग का जीवन प्रतिबम्बित हुआ है और उनकी विद्रोह भावना में सामाजिक वेदना से मुक्ति की कामना प्रकट हुई है। सन्त काव्य में पुरोहितवाद, धार्मिक आडम्बर, जाति-भेद, सामाजिक विषमता और ऊँच-नीच के भेदभाव का जो खण्डन और विरोध है वह सामंती समाज व्यवस्था और उसकी विचारधारा के विरुद्ध अभिव्यक्ति है। अपने सामाजिक अभिव्यक्ति में यह आन्दोलन

क्रान्तिकारी महत्व रखता है। सन्त कवियों ने एक समतावादी सामाजिक व्यवस्था की कल्पना बार-बार की है। प्रो0 मैनेजर पाण्डेय के अनुसार-

"कबीर की कविता में एक सुधारवादी संदेश है, एक जनवादी चेतना भी है जिसे उस सामंती समाज के सन्दर्भ में क्रान्तिकारी कहा जा सकता है। कबीर की लोक चिन्ता से उत्पन्न कविता में एक समन्वित संस्कृति की सम्भावना पैदा हुई थी, उससे दलित जातियां में आत्म विश्वास जगा था।"[1]

कबीर के समय मे वेद और शास्त्र के नाम पर धर्म के बहाने जनता का शोषण होता था। कबीर ने किताबी ज्ञान के बदले लोकजीवन के अनुभवों को उपयोगी और सार्थक बताते हुए शास्त्र और उस शास्त्र के सहारे होने वाले शोषण पर चोट की। इसीलिए इस काव्यधारा में 'संस्कृत बुद्धि, संस्कृत हृदय एवं संस्कृत वाणी का उचित विकास' न प्राप्त होने पर भी आचार्य रामचन्द्र शुक्ल को विवश होकर कहना पड़ा-

"अशिक्षित और निम्न श्रेणी की जनता पर इन संत महात्माओं का बड़ा भारी उपकार है। उच्च विषयों का कुछ आभास देकर, आचरण की शुद्धता पर जोर देकर, आडम्बरों का तिरस्कार करके, आत्मगौरव का भाव उत्पन्न करके, इन्होंने इसे ऊपर उठाने का स्तुत्य प्रयास किया।"[2]

सूरदास ने भी तत्कालीन सामंती समाज के भोग विलास में आकंठ डूबे जीवन का चित्रण किया है। "चौपरि जगत मढ़े जुग बीते" सूरदास का लम्बा बद है जिसमें उस समय के सुविधाभोगी मनुष्य के विलासमय जीवन की कहानी है। यद्यपि तुलसीदास वर्ण-व्यवस्था के समर्थक माने जाते हैं, लेकिन जाति-प्रथा के जहर को उन्होंने भी भोगा था, इसीलिए तीव्र आक्रोश में उन्होंने कहा है-

---

1- हिन्दी कविता की प्रगतिशील भूमिका: संपा0 प्रभाकर श्रोत्रिय पृष्ठ 76

2- हिन्दी साहित्य का इतिहास: आचार्य रामचन्द्र शुक्ल पृष्ठ 39

"धूत कहौ, अवधूत कहौ, रजपूत कहौ, जुलाहा कहौ कोऊ।
काहु की बेटी सों बेटा न ब्याहब, काहु की जाति बिगौरा न सोऊ ।।[1]

प्राय: ऐसा माना जाता है कि तुलसी की कविता में लोकसंग्रह की भावना धार्मिक आवरणों में ही व्यक्त हुई है लेकिन तुलसी ने भी अपने युग के नग्न यथार्थ को गहरी संवेदना और आत्मिक वेदना के साथ चुभती हुई भाषा में प्रभावी ढंग से व्यक्त किया है, इस बात पर ध्यान नहीं दिया जाता। तुलसी दास ने अकाल, भुखमरी, महामारी और बेरोजगारी की विपत्ति की विभीषिका से बेचैन जनता की दारुण दशा का जो कारुणिक चित्र खींचा है उससे तुलसी की सामाजिक चेतना, यथार्थ भावना और मानवीय चिन्ता का बोध तो होता ही है, उससे मुगलकाल की स्वर्णयुग की कपोल कल्पना पर भी प्रश्नचिन्ह लग जाता है-

"खेती न किसान को, भिखारी को न भीख बलि,
बनिक को न बनिज, नहीं चाकर को चाकरी।
जीविका-विहीन लोग सीद्‌यमान सोच बस,
कहैं एक एकन सौं, कहाँ जाइ का करी।"[2]

अपने इन मानवतावादी रुझानों के बावजूद तुलसी अपनी अन्तिम भूमिका में वर्ण-व्यवस्था के समर्थक ही प्रतीत होते हैं। समाजव्यापी अराजकता को दूर कर सामाजिक सुव्यवस्था और उसकी बेहतरी के लिए जो विराट योजना उन्होंने दी है वह मुख्यत: वर्णाश्रम धर्म की पुन. प्रतिष्ठा और वेद, पुराण और स्मृतियों के पालन पर आधृत है। तुलसी की यह मान्यता आज नितान्त असंगत और अप्रासंगिक हो गयी है। अतः तुलसी के काव्य में विवेक सम्मत इस प्रगतिशील चेतना का अभाव है जिससे संत काव्य आलोकित होता रहा है। प्रख्यात जनवादी समीक्षक डा0 शंभुनाथ के शब्दों में-

---

~~1 हिन्दी साहित्य का इतिहास: आचार्य रामचन्द्र शुक्ल पृष्ठ 39~~

1- कवितावली: तुलसीदास, पृष्ठ 157
2- वही, पृष्ठ 151

"धर्म की जिस नाव को संत कवि कबीर अंधी आस्था के तट से विवेक के मुहाने पर ले आये थे, उसे वे (तुलसीदास) पुन· आस्था के तट पर बाँध देते हैं। यदि तुलसी के मुँह से कहीं वर्णव्यवस्था और साम्प्रदायिकता का विरोध प्रकट हो जाता, तो हिन्दी क्षेत्र में लोकजागरण का स्तर दूसरा होता।"[1]

प्रेममार्गी धारा के कवियों ने अपनी रचनाओं के माध्यम से सांस्कृतिक मेल-जोल की प्रक्रिया को गतिशीलता प्रदान की। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने उचित ही कहा है कि कबीर की कठोर उक्तियाँ हिन्दू-मुसलमानों को एक दूसरे के निकट लाने का जो कार्य आकांक्षित स्तर पर नहीं कर सकी उसे जायसी जैसे सहृदय कवियों ने सफलतापूर्वक पूरा किया। कबीर ने अपनी झाड़-फटकार के द्वारा दोनों समुदायों के कट्टरपन को दूर करने का जो प्रयास किया वह अधिकतर चिढ़ाने वाला सिद्ध हुआ, हृदय को स्पर्श करने वाला नहीं। हिन्दू हृदय और मुसलमान हृदय को आमने-सामने करके अजनवीपन मिटाने का स्तुत्य कार्य सूफी कवियों द्वारा सम्पन्न हुआ। इन्होंने मुसलमान होकर हिन्दुओं की कहानियाँ हिन्दुओं की ही बोली में पूरी सहृदयता के साथ कहकर उनके जीवन की मर्मस्पर्शी अवस्थाओं के साथ अपने उदार हृदय का पूर्ण सामंजस्य दिखाया है। आचार्य राम चन्द्र शुक्ल के अनुसार-

" कबीर ने केवल भिन्न प्रतीत होती हुई परोक्ष सत्ता की एकता का आभास दिया था। प्रत्यक्ष जीवन की एकता का दृश्य सामने रखने की आवश्यकता बनी थी। यह जायसी द्वारा पूरी हुई।"[2]

भक्ति आन्दोलन मनुष्य की सत्ता को सर्वश्रेष्ठ मानता था और सभी वर्गगत, जातिगत भेदभावों तथा धर्म के नाम पर किये जाने वाले सामाजिक उत्पीड़न का विरोध करता था। यही कारण है कि प्रख्यात बंगला भक्त कवि चंडीदास ने कहा था:

~~1- कवितावली: तुलसीदास (लोकभारती प्रकाशन इलाहाबाद, 1973) पृष्ठ 151~~

1- कबीर: संपा0 वासुदेव सिंह, पृष्ठ 86

2- हिन्दी साहित्य का इतिहास: आचार्य राम चन्द्र शुक्ल, पृष्ठ 56

शुनह मानुष भाई
शबारे उपरे मानुष-सत्य
ताहार उपर नाई।

"मनुष्य सत्य' के प्रति आस्थावान भक्त कवि मानव जगत के विविध रूपों के भीतर ही अपनी आस्था के प्रसार का अवसर देखता है। सबसे बड़ी बात यह है कि भक्त कवि मनुष्य को हेय नहीं समझता, वह उसे तिरस्कृत नहीं करता बल्कि मनुष्य की विकासशीलता की अपार सम्भावनाओं में उसका गहरा विश्वास है। भक्तिकाव्य मानव जीवन की समग्रता का काव्य है, उसमें भाव, कर्म और ज्ञान का समन्वित विकास दिखाई देता है। कबीर जैसे संत कवियों के काव्य में उस युग के सामाजिक जीवन की वास्तविकता का बोध प्रबल है। उसकी कविता में केवल आध्यात्मिकता ही नहीं है। कबीर की कविता शास्त्रीयता के ऊपर लोक जीवन के अनुभव की प्रतिष्ठा की कविता है। कबीर के 'राम' और 'प्रेम' के उद्गम और लीला की भूमि लोकजीवन ही है, कहीं और नहीं। जायसी के काव्य में 'इश्क मजाजी' से 'इश्क हकीकी' की ओर की गयी यात्रा है । उस यात्रा के मार्ग में सम्पूर्ण लोकजीवन का भाव सौन्दर्य है जिसे प्रेम मार्गी कवि ऑख खोलकर पूरी तरह देखता है। सूरदास के कृष्ण की लीलाभूमि हमारे जीवन के आस-पास की ब्रजभूमि है, जहॉ कृष्ण की मनोरम बाल क्रीड़ाओं से लेकर रसमयी रास लीलाओं का सौन्दर्य है। "सिया राम मय सब जग जानी" कहकर भक्तकवि इस जगत की सत्यता को ही स्वीकार नहीं करता, बल्कि वह लोकमंगल की साधना को अपने ईश्वर की आराधना मानता है। उसका ईश्वर लोकजीवन से परे नहीं है। तुलसी अपने राम के 'शक्ति, शील और सौन्दर्य' का साक्षात्कार लोकजीवन के विविध रूपों में करते हैं। राम के मानवोचित व्यवहारों में ही रामचरितमानस के नायक के चरित्र का सौन्दर्य व्यक्त हुआ है। रामचरितमानस की कलात्मक श्रेष्ठता और उसके प्रभाव की व्यापकता का रहस्य उसके चरित्रों, जीवन- व्यवहारों, जीवन मूल्यों और भावों की मानवीयता में है, न कि उसकी धार्मिकता में।

भक्तिकालीन कविता में जो दैन्य और वेदना का भाव है उसमें सामंती समाज में जीने वाली जनता की वास्तविक वेदना की व्यंजना है और उस वास्तविक के विरुद्ध विद्रोह भी। कबीर की कविता में जो विद्रोह भावना है वह समाज की वास्तविक वेदना के ही बोध का

परिणाम है। सामंती समाज की गुलामी से परेशान भक्तकवि एक ऐसे कल्पनालोक की कामना करता है जहाँ प्रेम, सौन्दर्य, समता और स्वतंत्रता की ही सत्ता है। कबीर, सूर और तुलसी की कविता में यह कल्पना लोक किसी न किसी तरह विद्यमान है। इस रहस्यमय स्वप्नलोक की स्मृति बार-बार इस वास्तविक जीवन की अभावमयी परिस्थिति की ओर संकेत करती है। कबीर जब कहते हैं कि "रहना नहिं देस विराना है" तो यह जाहिर होता है कि भक्तकवि की कामना इसी लोकजीवन की अपनी कल्पना के अनुरूप बनाने की है। सामाजिक जीवन में जो भेदभाव, विषमता और वेदना है उससे मुक्ति के लिए ही कवि रहस्यमय कल्पनालोक में आध्यात्मिक स्तर पर एकता, अभेद, समता और आनन्द की कामना करता है। प्रख्यात जनवादी समीक्षक डा० शंभुनाथ ने उचित ही कहा है-

"संत कवियों का रहस्यवाद उनके युग के अमानवीय भेद-भाव और घृणा का ही आध्यात्मिक प्रत्युत्तर है।"[1]

भक्तिकाल के कवि लोकमंगल की भावना से प्रेरित और लोकमंगल की साधना के कवि थे। राम और कृष्ण भक्ति धारा के कवियों ने जिन कथाओं के आधार पर काव्य रचना की है, उन कथाओं के नायक अन्याय और अत्याचार के विरुद्ध संघर्ष करने वाले पुरुष हैं। सामंती समाज व्यवस्था के अन्याय, अत्याचार और शोषण के विरुद्ध संघर्ष करने वाली जनता इन कथा नायकों के संघर्ष में अपने संघर्ष की आकांक्षा का मूर्त रूप देखती है। इसी रूप में राम और कृष्ण भक्ति धारा के काव्य सामंती व्यवस्था से मुक्ति की जनता की आकांक्षा को संबल प्रदान करती है।

भक्ति-आन्दोलन सामन्त विरोधी लोक जागरण का साहित्य है- सामंत-विरोधी इस अर्थ में कि यह महान आन्दोलन स्वयं सामंतवाद के गर्भ में पुष्ट होने वाली नई क्रान्तिकारी सामाजिक शक्तियों का ध्वजवाहक है। भक्ति आन्दोलन केवल भक्ति और कविता का ही आन्दोलन नहीं है बल्कि वह एक अखिल भारतीय सांस्कृतिक पुर्नजागरण का आन्दोलन है।

1- कबीर (साहित्य और साधना): संपा० डा० वासुदेव सिंह, पृष्ठ 90

इस सांस्कृतिक पुर्नजागरण में हिन्दू-मुसलमान, सिख, कारीगर, व्यापारी सभी शामिल थे। डा0 रामविलास शर्मा के अनुसार-

"भक्ति-आन्दोलन जातीय आन्दोलन था, वह किसी विशेष वर्ण या सम्प्रदाय का आन्दोलन न था। उसमें हिन्दू सिख, मुसलमान, जुलाहे, कारीगर, किसान, व्यापारी सभी शामिल थे। उसे राज्याश्रय प्राप्त न था, यह भी बिल्कुल स्पष्ट है। कारण यह है कि वह एक ओर यदि तुर्कों और मुगलों के शासन का विरोधी था तो दूसरी ओर- उससे भी अधिक - वह समाज में सामंती और पुरोहिती उत्पीड़न का विरोधी था। इस सामंत-विरोधी कार्य में सूर, तुलसी, कबीर, जायसी सभी ने न्यूनाधिक योग दिया था।"[1]

भक्ति आन्दोलन की लोकधर्मिता के कारण ही व्यापक लोकजागरण सम्भव हो सका था, जिसका आधार था भक्तकवियों का सर्वत्र लोकजीवन और लोकभाषाओं से गहरा सम्बन्ध। सूर और तुलसी मध्यकाल के पारिवारिक जीवन के सबसे कुशल चित्रकार हैं। भारतीय ग्रामीण समाज के सांस्कृतिक जीवन का सौन्दर्य सूर और तुलसी की कविता में सर्वत्र दिखाई देता है। गोपियों के तर्क में शास्त्रीयता नहीं ग्रामीण जन की निश्छल आस्था की दृढ़ता है। कबीर, सूर और तुलसी की कविता में लोकोक्तियों और मुहाबरों का जो अपार भण्डार है उसमें लोकजीवन के अनुभवों की झॉकी देखी जा सकती है। लोकभाषाओं के विकास के कारण ही शिक्षा की सुविधा से वंचित दलित जातियों के रचनात्मक प्रतिभा के विकास और अभिव्यक्तियों को अवसर मिला अन्यथा संस्कृत, पालि और अपभ्रंश में साहित्य की रचना और आस्वाद का अधिकारी बुर्जुआ वर्ग ही था। परिणामतः सामंती समाज व्यवस्था में सदियों से पीड़ित दलित और वर्ण व्यवस्था के निम्नतम स्तर पर रहने वाले छोटी जातियों की रचनात्मक प्रतिभा का विस्फोट और उस समाज व्यवस्था के विरुद्ध विद्रोह की भावना की अभिव्यक्ति हुई। डॉ0 मैनेजर पाण्डेय ने उचित ही कहा है-

---

1- आचार्य शुक्ल और हिन्दी आलोचनाः डा0 राम विलास शर्मा पृष्ठ 101

"भक्ति आन्दोलन भारतीय संस्कृति और साहित्य के इतिहास में जन संस्कृति के उत्थान और उसकी रचनात्मक अभिव्यक्ति का आन्दोलन है। यह एक प्रकार से जन संस्कृति के नवजागरण का आन्दोलन है, जिसमें जनभाषा में जनजीवन से जुड़े कवियों द्वारा जनभावना की अभिव्यक्ति हुई है।"[1]

इसी प्रकार जन सामान्य पर भक्ति आन्दोलन के प्रभाव का मूल्यांकन करते हुए मुक्तिबोध लिखते हैं कि-

"भक्ति आन्दोलन का जनसाधारण पर जितना व्यापक प्रभाव हुआ उतना किसी अन्य आन्दोलन का नहीं। पहली बार शूद्रों ने अपने संत पैदा किये, अपना साहित्य और अपने गीत सृजित किए।"[2]

अत: कहा जा सकता है कि भक्तिकालीन लोकजागरण सर्वांगीण है। यह भारतीय जनता के समग्र जागरण का आन्दोलन है। आधुनिक काल के नवजाकरण की भाँति यह मात्र शहरी मध्यवर्ग का आन्दोलन नहीं था, अपितु इसकी जड़े सुदूर गाँवों में जन-जन तक फैली हुई थी। समाज के दलित शोषित वर्ग में इसने जबर्दस्त आत्मविश्वास पैदा किया जिससे सामाजिक विषमता, पाखण्ड और धार्मिक रूढ़िवाद काफी हद तक दूर हुआ। भक्ति आन्दोलन से समूचे समाज में आत्ममंथन का माहौल बना जिससे भारतीय धर्म, दर्शन , कला साहित्य और भाषा के क्षेत्र में नवीन चिन्तन, मौलिक सृजन और क्रान्तिकारी परिवर्तन हुए।

1- साहित्य और इतिहास दृष्टि: डा0 मैनेजर पाण्डेय, पृ0 92

2- नई कविता का आत्म संघर्ष और अन्य निबंध: मुक्तिबोध, पृष्ठ 88

रीतिकाल में कोई लोक जागरण क्यों नहीं हुआ?

सत्रहवीं शती क मध्य से उन्नीसवीं शती के मध्य का काल (सन् 1650 ई0 - 1850 ई0 तक) रीति काल के नाम से जाना जाता है। दरबारी मनोवृत्ति, चमत्कार और अलंकरण का मोह तथा कवि के साथ आचार्यत्व का दिखावा और सबसे बढ़कर लोकजीवन से अलग-थलग रहकर अपनी कविता रचने की प्रवृत्ति रीति कवियों की प्रमुख विशेषतायें हैं। त्रिलोचन के अनुसार-

"रीति युग उसी मध्ययुग का उत्तरार्ध है जिसका पूर्वार्ध सामाजिक चेतना से सम्पन्न और कर्तव्य की उदात्तीकृत भक्ति रचनाओं वाला युग था और उसके बाद वह भारतेन्दु युग आता है जो नये जागरण का पहला प्रभात था। इस प्रकार काव्य की दृष्टि से रीतिकाल दो उजालों के बीच एक अंधेरे का युग था।"[1]

प्रश्न उठता है कि रीतिकाल में कोई लोकजागरण क्यों नहीं हुआ? रीतिकालीन साहित्य में जनभावना और जन संस्कृति की अभिव्यक्ति क्यों नहीं हुई? रीतिकालीन कविता क्यों सुरा और सुन्दरी के इर्द-गिर्द ही चक्कर लगाती रही? भक्ति काल के बाद इतिहास और समाज में क्या बदल गया कि भक्त-कवि तो आसानी से राजा और राज्याश्रय को अंगूठा दिखा सकता था लेकिन रीति कवि उसी की छत्रछाया का आसरा करने लगे? इन प्रश्नों का समाधान तत्कालीन सामाजिक- राजनीतिक परिस्थितियों में ढूँढ़ना समीचीन होगा।

ऐतिहासिक दृष्टि से रीतियुग शाहजहाँ के शासन के अन्तिम दौर से प्रारम्भ होकर बहादुर शाह जफर के शासन के अन्तिम दौर तक फैला हुआ था। इस युग का अधिकांश भाग औरंगजेब के शासनकाल से सम्बद्ध रहा। अकबर के भावात्मक एकता और धार्मिक सहिष्णुता के प्रयास औरंगजेब के समय में लगभग समाप्त हो चुके थे। दारा शिकोह की, जो अपनी धार्मिक सहिष्णुता और उदारता के लिए हिन्दुओं में बहुत लोकप्रिय था, की निर्मम हत्या ने

1- हिन्दी कविता की प्रगतिशील भूमिका: संपा0 प्रभाकर श्रोत्रिय, प्रथम संस्करण 1978 पृष्ठ: 83

औरंगजेब को एक कट्टर सुन्नी मुसलमान के रूप में हिन्दू जनता के बीच स्थापित किया। आगे चलकर औरंगजेब ने अनेक ऐसे कदम उठाये जिससे हिन्दू भावनाओं को काफी ठेस पहुँचा। जजिया का पुनः लगाया जाना एवं हिन्दू मन्दिरों को तोड़ा जाना आदि ऐसे ही कदम थे। राजपूतों के मामले में अनावश्यक हस्तक्षेप से वह उनकी सहानुभूति एवं उनकी बहुमूल्य सेवाओं से से हाथ धो बैठा और उसके राज्य में जागीरदारों, राजाओं और हिन्दुओं के धार्मिक उपद्रव आरम्भ हो गये। परिणाम यह हुआ कि उसके शासनकाल का अधिकांश समय इन उपद्रवों के दमन में ही व्यतीत हुआ। वह शासन को सशक्त एवं इतने विस्तृत साम्राज्य को सुगठित न कर सका।

औरंगजेब के पश्चात् 1707 ई० में उसके पुत्रों के बीच संघर्ष हुआ और द्वितीय पुत्र मुअज्जम (शाह आलम प्रथम) गद्दी पर बैठा। वह यद्यपि उदार था, पर अधिक समय जीवित न रह सका। उसके बाद 1712 ई० में इस साम्राज्य का पतन आरम्भ होता है। लगभग 50 वर्ष तक शासन एक प्रकार से स्थिर न हो सका। राजगद्दी पर अल्पकाल के लिए ही लोग आते रहे। जो कुछ अधिक समय के लिए आये, वे विलास में निमग्न रहने के कारण राज्य की देखभाल न कर सके। परिणामतः अव्यवस्था और अशान्ति इतनी बढ़ती गयी कि छोटे-छोटे जागीरदार भी अपने आपको स्वतंत्र घोषित कर बैठे और धीरे-धीरे केन्द्र की पकड़ इतनी ढ़ीली हो गयी कि साम्राज्य अब दिल्ली और आगरा के क्षेत्र तक ही सीमित रह गया। इसी बीच 1739 में नादिरशाह का आक्रमण हुआ। उसने इस शासन की नींव हिला डाली। जो कुछ शेष रह गया था, उसकी कमी अहमद शाह अब्दाली के 1761 ई० के आक्रमण ने पूरी कर दी। इधर विदेशी व्यापारियों- विशेषतः अंग्रेजों ने इस स्थिति का पूरा-पूरा लाभ उठाया और वे भीतर-ही-भीतर शक्ति का संचय करते हए इस अवस्था तक पहुँच गये कि 1803 ई० तक समस्त उत्तरी भारत पर उनका आधिपत्य हो गया और मुगल सम्राट नाममात्र के लिए शासक रह गये।

सामाजिक दृष्टि से भी इस काल को घोर अधः पतन का युग ही कहा जाना चाहिए। इस काल में सामन्तवाद का बोलबाला था, और सामन्तशाही के जितने भी दोष हुआ करते हैं उनका प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष प्रभाव जन सामान्य के जीवन पर पड़ रहा था।

सामाजिक व्यवस्था का केन्द्र बिन्दु बादशाह था और उसके अधीन थे मनसबदार। इनके बाद ओहदों के अनुसार दूसरे कर्मचारी आते थे और सबका कर्तव्य-कर्म अपने से ऊपर वालों को प्रसन्न करना था- नीचे वालों को ये मात्र सम्पत्ति समझते थे। शासित वर्ग में एक ओर श्रमजीवी और कृषक आते थे और दूसरी ओर सेठ, साहूकार, दुकानदार और व्यापारी। शासक वर्ग की आय श्रमजीवी-कृषक तथा सेठ-साहूकारादि से कर के रूप में प्राप्त होती थी और सेठ-साहूकारादि कृषकों और श्रमजीवियों की कमाई को विभिन्न प्रकार से अपनाकर अपनी जीविका कमाते थे। इस प्रकार कृषक-श्रमजीवियों का यह निम्नवर्ग सभी ओर से शोषित था। इस पर सेनाओं के प्रयाणों, युद्धों , अतिवृष्टि , अनावृष्टि आदि के कारण इस वर्ग की आय के एक मात्र साधन कृषि की भी हानि होती रहती थी। श्रमजीवी वर्ग को किसी न किसी की बेगार करनी पड़ती थी। कुल मिलाकर इस युग में गरीबों की आर्थिक स्थिति अत्यन्त शोचनीय थी। तत्कालीन समाज के नैतिक एवं चारित्रिक स्थिति के बारे में उचित ही कहा गया है-

"ऐसी शोचनीय अवस्था में यदि लोग भाग्यवादी अथवा नैतिक मूल्यों से रहित थे, तो कोई आश्चर्य की बात नहीं। कार्य-सिद्धि के लिए उत्कोच लेना-देना तो साधारण बात थी ही, विलासिता भी इसी कारण बढ़ गयी थी। नारी को अपनी सम्पत्ति मानकर ही उसका भोग इनके जीवन का मूलमंत्र हो गया था। विलास के उपकरणों की खोज और उनका संग्रह तथा सुरा-सुन्दरी की आराधना अभिजात वर्ग का शगल था ओर मध्यम और निम्न वर्ग के लोगों में उसका बोलबाला उसके अनुकरण के कारण था।"[1]

इस प्रकार हम देखते हैं कि सामाजिक-राजनीतिक दृष्टि से यह युग आदि से अन्त तक घोर अध:पतन का युग था। अकबर के भावात्मक एकता और धार्मिक सहिष्णुता के प्रयास और औरंगजेब के समय में लगभग समाप्त हो चुके थे। जहाँगीर और शाहजहाँ के समय विलास के दौर में कला और साहित्य में भी शान-शौकत, नक्काशी और विलासिता की प्रवृत्ति पनप रही थी। अकबर के दरबार की विद्वत और धार्मिक परिषदों का स्थान बादशाहों के विलास

1- हिन्दी साहित्य का इतिहास: संपा0 डा0 नगेन्द्र, पृष्ठ 297

को बढ़ावा देने और चमत्कारों का प्रदर्शन करने वाले कवि-कलाकारों की मंडलियों ने ले लिया। दिल्ली दरबार का अनुकरण देश के अन्य राजाओं और सूबेदारों की राज सभाओं में होने लगा और जगह-जगह वैसे ही कलाकारों और कवियों का दल इकट्ठा किया गया। कवि-कलाकार शासकों की शान शौकत का प्रतीक और मनोरंजन का साधन थे। इस युग के अधिकांश प्रमुख कवियों की आजीविका का साधन राजदरबारों से प्राप्त सहायता थी। उन्होंने अपने अश्रयदाताओं के मनोनुकूल काव्य का सृजन किया। कवियों ने राधा-कृष्ण का नाम लेकर आश्रयदाताओं की श्रृंगार लीलाओं का वर्णन किया है। चूँकि इस युग का परिवेश भी बहुत कुछ श्रृंगारी था और आश्रयदाता राजाओं की मनोवृत्ति भी श्रृंगार से सराबोर थी अतः रीति कवियों ने अपना वर्ण्य विषय नायिका-भेद, नख-शिख वर्णन, चमत्कार प्रदर्शन और रसिकता तक सीमित कर लिया था। इनकी दृष्टि में स्त्री केवल भोग-विलास की वस्तु थी। 'प्रेयसी' रूप के अलावा स्त्री के अन्य रूप भी हैं, इस तथ्य की ओर उनकी दृष्टि ही नहीं गयी है। ऐसे दरबाराश्रित कवियों से किसी प्रगतिशीलता या जन-सामान्य के उद्बोधन की अपेक्षा भी नहीं की जा सकती। इस सन्दर्भ में त्रिलोचन शास्त्रीः का कथन उद्धरणीय है-

"इस युग के अधिकांश प्रमुख कवियों की आजीविका का साधन राजदरबारों से प्राप्त सहायता थी। इसलिए उनमें भी बड़ी विलासिता पनपी जो बड़े राज कर्मचारियों में थी। राज दरबार तक अपने को सीमित कर लेने और सामान्य जनता से कट जाने का अनिवार्य परिणाम रीति कवियों के रूढ़िपालन और भारतीय जीवन और संस्कृति की प्रगतिशील चेतना से कट जाने के रूप में दिखाई दिया। क्योंकि जनता से कट जाने का परिणाम जीवन्त संस्कृति और जीवन की गत्यात्मकता से कटने में स्वत देखा जा सकता है।"[1]

इस प्रकार हम देखते हैं कि रीतिकाल के कवि तत्कालीन सामाजिक- राजनीतिक एवं सांस्कृतिक परिस्थितियों के शिकार हो गये। भक्त-कवि तो आसानी से राजा और राज्याश्रय को अंगूठा दिखा सकता था लेकिन रीति-कवि उसी की छत्रछाया का आसरा करने लगे।

1- हिन्दी कविता की प्रगतिशील भूमिकाः संपा0 प्रभाकर श्रोत्रिय (प्रथम संस्करणः 1978) पृष्ठ 84

भक्त-कवि समाज और लोक के प्रति, मुनष्य के प्रति अपनी भूमिका को गिरवी नहीं रख सकता था। लेकिन वही आधार रीति-कवियों के लिए सार्थक नहीं रह गया। राज-दरबारों की चकाचौंध में वे जन-सामान्य के प्रति अपनी भूमिका को भूल बैठे। वे महज सामंती दरबारों के सेवक बन गये। परिणामत रीतिकाल में कोई लोकजागरण नहीं हो सका।

भक्ति आन्दोलन के उदय की व्याख्या

(आचार्य रामचन्द्र शुक्ल एवं आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के मतों का तुलनात्मक विवेचन)

भक्ति आन्दोलन से भारतीय समाज एवं संस्कृति की नयी अवस्था का प्रारम्भ होता है। यह आन्दोलन व्यापक सांस्कृतिक आन्दोलन है जिसकी अभिव्यक्ति धर्म, दर्शन, भाषा, साहित्य एवं कला आदि अनेक क्षेत्रों में परिलक्षित होती है। वास्तव में यह सामंती संस्कृति के विरुद्ध जन संस्कृति के उत्थान का अखिल भारतीय आन्दोलन है।

अब प्रश्न यह उठता है कि भक्ति आन्दोलन की मूलवर्ती प्रेरणा क्या थी? जिसके फलस्वरूप उसका आविर्भाव हुआ और जिसकी चेतना ने भारतीय जनजीवन को शताब्दियों तक अपने में सराबोर रखा। वह कौन सा दुर्दम शक्तिपात था जिसने भक्ति के मन्द-मन्द बहते सोते को एक उच्छल नद का रूप दे दिया? क्या भक्ति आन्दोलन कोई आकस्मिक घटना मात्र था अथवा वह किसी विदेशी प्रेरणा स्रोत का परिणाम था। अथवा वह भारतीय जन-जीवन के बीच भक्ति के मन्द-मन्द चले आते हुए प्रवाह की ही कुछ विशेष परिस्थितियों में उपजी एक जीवन्त अभिव्यक्ति था? इन प्रश्नों पर विभिन्न विद्वानों में काफी मतभेद है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल भक्ति आन्दोलन की आकस्मिक उद्‌दाम अभिव्यक्ति का कारण भारत में इस्लाम के आगमन और उसके साम्प्रदायिक रूख के परिणाम स्वरूप उपजने वाली भारतीय जनता की पराभूत मनोवृत्ति और हताश प्रतिक्रिया में खोजते हैं। वे हिन्दुओं के पराभव और उससे उत्पन्न सांस्कृतिक संकट को भक्ति आन्दोलन के विकास का प्रमुख कारक मानते हैं। इस बारे में उनकी टिप्पणी है- "देश में मुसलमानों का राज्य प्रष्ठिापित हो जाने पर हिन्दू जनता के हृदय में गौरव, गर्व और उत्साह के लिए वह अवकाश न रह गया। उसके सामने ही उसके देव मन्दिर गिराये जाते थे, देवमूर्तियाँ तोड़ी जाती थीं और पूज्य पुरुषों का अपमान होता था और वे कुछ भी नहीं कर सकते थे। ऐसी दशा में अपनी वीरता के गीत न तो वे गा ही सकते थे और न बिना लज्जित हुए सुन ही सकते थे। आगे चलकर जब मुस्लिम साम्राज्य दूर तक स्थापित हो गया तब परस्पर लड़ने वाले स्वतंत्र राजा भी नहीं रह गये। इतने भारी राजनीतिक उलटफेर के पीछे हिन्दू जन समुदाय

पर बहुत दिनों तक उदासी सी छायी रही। अपने पोरुष से हताश जाति के लिए भगवान की शक्ति और करुण की ओर ध्यान ले जाने के लिए अतिरिक्त दूसरा मार्ग ही क्या था?"[1] आगे उन्होंने यह भी लिखा है कि - "भक्ति का जो सोता दक्षिण की ओर से धीरे-धीरे उत्तर भारत की ओर पहले से ही आ रहा था उसे राजनीतिक परिवर्तन के कारण शून्य पड़ते हुए जनता के हृदयक्षेत्र में फैलने के लिए पूरा स्थान मिला।"[2]

शुक्ल जी की उपर्युक्त स्थापनाओं के विरोध में अनेक आपत्तियाँ उठायी जा सकती हैं। शुक्ल जी की वह स्थापना कि हिन्दू जनता अपने देव-मूर्तियों को टूटते देखकर असहाय होकर भगवान की शरण में गयी- कुछ तर्कसंगत नहीं प्रतीत होती। पहली बात तो यह है कि यदि हिन्दू जनता मुसलमान शासकों के अत्याचार से व्यथित थी तो उसमें बदला लेने की भावना उठनी थी, इसके अनुकूल उसमें वीरता और शहादत का संचार होना चाहिए था, न कि भक्ति का। दूसरी बात, अपने देव-मन्दिरों और उनमें स्थित मूर्तियों का टूटते देखकर, उन्हें बचाने का प्रयास करने के बजाय, हिन्दू जनता ने उपासना के आश्रय-स्थल नवीन मन्दिरों और मूर्तियों का पुर्ननिर्माण आरम्भ कर दिया, ताकि तोड़ने के लिए मुसलमानों को और भी स्थल मिल सकें। यह अपने आप में कितनी उपहासास्पद बात लगती है।

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी भक्ति आन्दोलन को न तो पराजित मनोवृत्ति का परिणाम मानते हैं और न ही इसे मुस्लिम राज्य की प्रतिष्ठा की प्रतिक्रिया। उनका कहना है कि- "इस्लाम के अत्याचार तो उत्तर भारत में हुए किन्तु भगवान से शरणागति की प्रवृत्ति दक्षिण में क्यों दिखाई पड़ी जो उस समय एकदम निरापद था। मुसलमानों के अत्याचार के कारण यदि भक्ति की भावधारा को उमड़ना था तो उसे पहले सिन्ध में और फिर उत्तर भारत में प्रकट होना चाहिए था, पर वह हुई दक्षिण में।"[3]

1- हिन्दी साहित्य का इतिहास: आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, पृ0 34

2- वही पृष्ठ 35

3- हिन्दी सहित्य: उद्भव और विकास: आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी पृ0 88-89

आचार्य शुक्ल की उपरोक्त स्थापनाओं से यह स्पष्ट हो जाता है कि वे भक्ति आन्दोलन के उदय का सीधा सम्बन्ध तत्कालीन राजनीतिक स्थिति से जोड़ते हैं। यह बाह्य राजनीतिक परिस्थिति ही वह मुख्य कारक है जिसे वे भक्ति आन्दोलन के विकास के मुख्य तत्व के रूप में रेखांकित करते हैं। लेकिन इसका मतलब यह रही है कि उन्होंने भक्ति के आन्तरिक अन्तर्विरोधों का जिक्र ही नहीं किया है। भक्ति के क्रमिक विकास पर प्रकाश डालते हुए उन्होंने लिखा है- "धर्म की भावात्मक अनुभूति या भक्ति, जिसका सूत्रपात महाभारत काल में और विस्तृत प्रवर्तन पुराणकाल में हुआ था, कभी कहीं दबती, कभी कहीं उभरती किसी प्रकार चली भर आ रही थी।"[1] लेकिन यह स्पष्ट है कि भक्ति के विकास के आन्तरिक भक्ति के मुख्य कारण को वे पूरी तन्मयता और स्पष्टता के साथ उजागर नहीं कर सके क्योंकि भक्ति सामंती व्यवस्था के विपरीत तत्व के रूप में ही विकसित हुई। आचार्य शुक्ल की दृष्टि इस तथ्य की ओर न जा सकी और इन्होंने तत्कालीन राजनीतिक परिवर्तन (उत्तर भारत में मुस्लिम साम्राज्य की स्थापना) को भक्ति आन्दोलन के उदय का मुख्य कारण मान लिया।

के0 दामोदरन के अनुसार भक्ति आन्दोलन का जन्म सामंती व्यवस्था के आन्तरिक अन्तर्विरोधों के कारण हुआ। उनका मानना है कि भक्ति आन्दोलन शुद्ध रूप से एक धार्मिक आन्दोलन नहीं था, वैष्णवों के विद्धान्त उस समय व्याप्त सामाजिक- आर्थिक यथार्थ की आदर्शवादी अभिव्यक्ति थे। सांस्कृतिक क्षेत्र में वैष्णवों के सिद्धान्त ने राष्ट्रीय नवजागरण का रूप धारण किया और सामाजिक विषय-वस्तु में वे जाति प्रथा और अन्यायों के विरुद्ध अत्यन्त महत्वपूर्ण विद्रोह के द्योतक थे। उन्होंने लिखा है- "व्यापारी और दस्तकार सामंती और धार्मिक शोषण का मुकाबला करने के लिए इस आन्दोलन से प्रेरणा प्राप्त करते थे। यह सिद्धान्त कि ईश्वर के सामने सभी मनुष्य समान हैं, इस आन्दोलन का ऐसा केन्द्र बन गया जिसने पुरोहित वर्ग और जाति प्रथा के आतंक के विरुद्ध संघर्ष करने वाले आम जनता के व्यापक हिस्सों को अपने चारों ओर एकजुट किया। इस प्रकार मध्ययुग के इस महान आन्दोलन

1- हिन्दी साहित्य का इतिहासः आचार्य रामचन्द्र शुक्ल , पृष्ठ 34

ने न केवल विभिन्न भाषाओं और विभिन्न धर्मों वाले जन समुदायों की एक सुसंबद्ध भारतीय संस्कृति के विकास में मदद की, बल्कि सामंती दमन और उत्पीड़न के विरुद्ध संयुक्त संघर्ष चलाने का कार्य भी प्रशस्त किया।"[1]

इस प्रकार के0 दामोदरन ने भक्ति आन्दोलन के जिस आन्तरिक अन्तर्विरोध को स्पष्ट किया है वह आचार्य शुक्ल की विवेचना और विश्लेषण में देखने को नहीं मिलता है। लेकिन यह बात स्पष्ट है कि भक्ति आन्दोलन का आविर्भाव सामंती व्यवस्था के अन्तर्विरोधों से ही हुआ है। अतएव उसके विकास का आन्तरिक कारण भी उसी में ढूँढा जाना चाहिए। आचार्य शुक्ल की स्थापनाओं के पक्षधर डा0 राम विलास शर्मा ने भी इस अन्तर्विरोध को बड़ी स्पष्टता के साथ उल्लिखित किया है- " जो लोग इस्लाम और हिन्दू धर्म की टक्कर में मध्यकालीन समाज की आशा-निराशा का स्रोत ढूँढते हैं, वे उस समय के साहित्यिक आन्दोलनों के सामाजिक आधार का सही-सही पता नहीं लगा सकते। जायसी और सूर एक ही समाज या एक से ही समाज के प्राणी थे। यह समाज ऐसा था जिसमें नये व्यापारी वर्ग की बढ़ती के साथ साथ कारीगरों, जुलाहों और किसानों में मुक्ति की आकांक्षा बढ़ रही थी। हर सामंती समाज में पुरोहितों ने जनता को परलोक के लिए जीना, इस लोक के दुखों का कारण अपने पापों में ढूँढना सिखाया है। जीवन की अस्वीकृति के विरोध में, सामन्ती शिकंजा जरा ढीला होने पर, जब जनता को सांस लेने का अवकाश मिला, तब उसने जीवन में अपनी आस्था प्रकट करना शुरू किया। उसने तरह-तरह के प्रतीकों द्वारा अपने हृदय के मानवसुलभ भावों को व्यक्त करना आरम्भ कर दिया। सूर और जायसी इस जीवन की स्वीकृति की वाणी हैं। इस वाणी को सामंतों ने दबा रखा था, इस दबाव को तोड़कर ब्रज और अवध की धरती से यह प्रेम की सरस धारा फूट पड़ी। यह सामन्त विरोधी पक्ष है जिसे भुलाना सही न होगा।"[2]

1- भारतीय चिंतन परम्परा: के0 दामोदरन तीसरा संस्करण, पृष्ठ 327

2- आचार्य रामचन्द्र शुक्ल और हिन्दी आलोचना: डा0 राम विलास शर्मा, पृष्ठ 89

इस प्रकार डा0 राम विलास शर्मा के कथन से भी यह स्पष्ट हो जाता है कि मध्यकालीन भारतीय समाज व्यवस्था और भक्ति आन्दोलन का मुख्य अन्तर्विरोध हिन्दू मुस्लिम संघर्ष नहीं है, बल्कि मुख्य अन्तर्विरोध तो सामंतवाद की प्रकृति में ही निहित है। लेकिन भक्ति आन्दोलन के आविर्भाव और उसके विकास के विश्लेषण और विवेचन में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल से यह चूक हुई है कि भक्ति आन्दोलन को सही परिप्रेक्ष्य में न देखकर हिन्दू-मुस्लिम संघर्ष तथा उससे उपजी हिन्दू जाति की हताशा को ही भक्ति आन्दोलन के विकास के लिए मुख्य कारण के रूप में रेखांकित किया।

भक्ति आन्दोलन की विस्तार से चर्चा करने वालों में आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी का विशिष्ट स्थान है। उनका यह दृढ़ विश्वास था कि इतना विराट जन आन्दोलन जिसने भारतीय जन-जीवन में नई प्राण प्रतिष्ठा की हो, किसी विदेशी स्रोत या किसी हताश प्रतिक्रिया की उपज नहीं हो सकता। उसकी जड़े जरूर अपने देश की मिट्टी में ही होंगी और वह निश्चित रूप से जन सामान्य के सहज उत्साह तथा आस्था का प्रतिफल होगा। कबीर, सूर, तुलसी और जायसी का साहित्य मानवीय निष्ठा, आत्मसम्मान और तेजस्विता का साहित्य है जिसका सृजन हताशा या प्रतिक्रिया की मनःस्थिति में सम्भव नहीं है। कोई भी महान साहित्य महज प्रतिक्रिया की उपज नहीं हुआ करता, उसकी अपनी खुद की जमीन होती है। अपने इस सहज विश्वास के तहत ही आचार्य द्विवेदी ने भक्ति आन्दोलन की आत्मा को पहचानने का प्रयास किया, और कहना न होगा कि अपने गहन अध्ययन, चिन्तन-मनन तथा जिज्ञासु शोधवृत्ति के कारण वे भक्ति आन्दोलन को उसके सही परिप्रेक्ष्य में उसकी अपनी जमीन के साथ पहचानने और प्रस्तुत करने में सफल हुए।

द्विवेदी जी ने आचार्य शुक्ल की इस स्थापना का बड़ा प्रतिवाद किया कि भक्ति आन्दोलन इस्लामी आक्रमण से पराभूत हताश हिन्दू जाति की पराजित मनःस्थिति का परिणाम है। उन्होंने लिखा- "मै जोर देकर कहना चाहता हूँ कि अगर इस्लाम न भी आया होता तो

भी इस साहित्य का बारह आना वैसा ही होता, जैसा आज है।"[1] आगे द्विवेदी जी ने भक्ति काव्य को मुस्लिम आक्रमण की 'प्रतिक्रिया' समझने वाली धारणा का खण्डन करते हुए कहा है कि - "सूर और तुलसीदास आदि वैष्णव कवियों की समूची कविता में किसी प्रकार की प्रतिक्रिया का भाव नहीं है। जिस समाज को वे भक्तगण सुधारना चाहते थे उसमें विदेशी धर्म का कोई प्रभाव उन्होंने लक्ष्य नहीं किया था।"[2] अपने मंतव्यों को और स्पष्ट करते हुए वे कहते हैं - "कुछ विद्वानों ने इस भक्ति आन्दोलन को हारी हुई हिन्दू जाति की असहाय चित्त की प्रतिक्रिया के रूप में बताया है जो ठीक नहीं है। प्रतिक्रिया तो जातिगत कठोरता और धर्मगत संकीर्णता के रूप में प्रकट हुई थी। उस जातिगत कठोरता का एक परिणाम यह हुआ कि इस काल में हिन्दुओं में वैरागी साधुओं की विशाल वाहिनी खड़ी हो गयी क्योंकि जाति के कठोर शिकंजे से भाग निकलने का एकमात्र उपाय साधु हो जाना ही रह गया था। भक्तिमतवाद में इस अवस्था को संभाला और हिन्दुओं में नवीन और उदार आशावादी दृष्टि प्रतिष्ठित की।"[3]

भक्ति आन्दोलन के उदय को द्विवेदी जी किसी प्रकार की प्रतिक्रिया न मानकर भारतीय चिन्ता की ही सहज और स्वाभाविक अभिव्यक्ति और विकास माना है। वह विभिन्न धर्मो के समान-असमान भावनाओं और साधना पद्धतियों के सारतत्व का ऐसा सम्मिलन है जिसकी मिसाल दुर्लभ है। यह ठीक है कि उसकी अभिव्यक्ति यकायक ही हुई, किन्तु तह पर जाकर विचार करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि जिसे सर जार्ज ग्रियर्सन ने बिजली की चमक से समान अचानक कौंध उठने वाला माना है, वह भक्ति आन्दोलन वस्तुतः वैसा नहीं था, "उसके लिए सैकड़ों वर्षो से मेघखण्ड एकत्र हो रहे थे।"[4] इन मेघखण्डों की पहचान और

1- हिन्दी साहित्य की भूमिका: डा0 हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृष्ठ 16

2- वही, पृष्ठ 39

3- हिन्दी साहित्यः उद्भव और विकासः आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृष्ठ 102

4- हिन्दी साहित्य की भूमिका: आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृष्ठ 53

विस्तृत व्याख्या में ही आचार्य द्विवेदी की शोधवृत्ति और उनके पांडित्य को परखा जा सकता है।

'हिन्दी साहित्य की भूमिका' में आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी लिखते हैं कि मध्यकाल की भक्ति रचनायें, विशेषत: संतकाव्य, भारतीय चिन्ता-धारा का स्वाभाविक विकास है। उनके अनुसार- "बौद्ध तत्ववाद जो, निश्चय ही बौद्ध आचार्यो की चिन्ता की देन था, मध्ययुग के हिन्दी साहित्य के उस अंग पर अपना निश्चित पद-चिन्ह छोड़ गया है जिसे 'संत साहित्य' नाम दिया गया है..... मैं जो कहना चाहता हूँ वह यह है कि बौद्ध धर्म क्रमशः लोकधर्म का रूप ग्रहण कर रहा था और उसका निश्चित चिन्ह हम हिन्दी साहित्य में पाते हैं।"[1] यानि द्विवेदी जी की यह निश्चत मान्यता है कि बौद्ध धर्म क्रमशः लोक स्तरों में संक्रमित हुआ और धीरे-धीरे निर्गुण तथा सगुण दोनों भक्तिधाराओं का प्रेरक तत्व बन गया। अत: भक्ति साहित्य के विकास में इस्लाम का कोई विशिष्ट प्रभाव नहीं माना जा सकता है। 'भूमिका' के प्रथम अध्याय 'भारतीय चिन्ता का स्वाभाविक विकास' का उपसंहार करते हुए द्विवेदी जी इस प्रकार लिखते हैं- " भारतीय पांडित्य ईसा की एक सहस्राब्दी बाद आचार-विचार और भाषा के क्षेत्रों में स्वभावतः ही लोक की ओर झुक गया था। यदि अगली शताब्दियों में भारतीय इतिहास की अत्यधिक महत्वपूर्ण घटना, अर्थात् इस्लाम का प्रमुख विस्तार, न भी घटी होती तो भी वह इसी रास्ते ज़ाता। इसके भीतर की शक्ति उसे इसी स्वाभाविक विकास की ओर ठेले लिए जा रही थी।"[2]

यहाँ स्पष्ट है कि द्विवेदी जी ने लोक शक्ति को ही भीतरी शक्ति माना है। साथ ही उन्होंने भक्ति आन्दोलन के मूल में बाहरी कारणों की तुलना में भीतरी शक्ति की ऊर्जा को प्रमुखता दिया है। इसी कारण द्विवेदी जी ने भक्ति आन्दोलन के उदय को इस्लाम

1- हिन्दी साहित्य की भूमिका: आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृष्ठ 21-22

2- वही, पृष्ठ-25

और हिन्दू धर्म के संघर्ष का परिणाम न मानते हुए शास्त्र और लोक के द्वन्द्व की उपज माना, जिसमें लोक की प्रभावी साबित हुई। अत. स्पष्ट है कि द्विवेदी जी के अनुसार मध्ययुग के भारतीय इतिहास का मुख्य अर्न्तविरोध शास्त्र और लोक के बीच का द्वन्द्व है, न कि इस्लाम और हिन्दू धर्म का संघर्ष। शास्त्र और लोक के बीच द्वन्द्व की प्रक्रिया का आकलन करते हुए द्विवेदी जी कहते हैं कि 'शास्त्र' और 'लोक' एक दूसरे से प्रभावित होते रहे हैं। यदि एक ओर 'शास्त्र' ने झुककर लोक की विशेषताओं को अन्तर्मुक्त किया तो दूसरी ओर शास्त्र-वंचित लोक भी अपने विचारों एवं अनुभवों को सुसंगत और समृद्ध बनाने के लिए 'शास्त्र' का सहारा लेता रहा है। इसी सन्दर्भ मे द्विवेदी जी ने लोक में भक्ति की मंद-मंद चली आ रही धारा के उद्यम वेग वाले एक उच्छल नद का रूप ले लेने की व्याख्या की है। उनके अनुसार - "लोक सामान्य भक्ति की मन्द प्रवाहित धारा को जन-जन के बीच में फैल जाने के लिए प्रेरित करने वाला यह जीवित संस्पर्श था ।क्रान्तिकारी सामाजिक चेतना तथा अद्‌भुत मेधा वाले महान आचार्यो का उसे शास्त्र-सम्मत व्याख्यायें देते हुए शास्त्रों की जमीन से जोड़ देना।"[1]

शास्त्र की गरिमा से इस भक्ति को पुष्ट कर इन आचार्यो ने जन सामान्य के मन में इस विश्वास कोजगा दिया कि अब उन्हें अपनी आध्यात्मिक पिपासा को शान्त करने के लिए अपनी जमीन से निर्वासित होने की जरूरत नहीं है, इस पर दृढ़ता के साथ खड़े रहकर भी वे आकांक्षित ऊँचाइयों तक जा सकते हैं। तत्कालीन परिस्थितियों में इस विश्वास को जगा देना एक बड़ी बात थी। यही वह समय था जब दक्षिण से आती हुई भक्ति की पयस्विनी का उत्तर भारत की लोकभक्ति की धारा से संगम हुआ। इस प्रवर्तन का सारा श्रेय जाता है रामानुजाचार्य, रामानन्द तथा बल्लभाचार्य जैसे क्रान्तद्रष्टा आचार्यो को। इन आचार्यो ने विशेषतः रामानन्द और बल्लभाचार्य ने, दक्षिण की भक्ति को उत्तर से जोड़ा, तदनन्तर जो निर्गुण और सगुण रूप में एक समान गंतव्य की ओर भिन्न-भिन्न मार्गो से प्रवाहित हुई।

आचार्य द्विवेदी ने इस प्रकार भक्ति आन्दोलन को उसके सही स्रोत से जोड़ते हुए एक बहुत बड़े भ्रम का निराकरण किया। जहाँ तक भक्ति आन्दोलन के मूल में इस्लामी

आक्रमण और इस्लाम की विजय के फलस्वरूप पराभूत हिन्दू जाति की हताश प्रतिक्रिया का सवाल है, यह बात आचार्य द्विवेदी को मान्य नहीं है। उनके अनुसार कबीर जैसे संतों की तृप्त वाणी हो या कि प्रेम रस में सराबोर सूर जैसे भक्तों की आकुल पुकार यही नहीं, तुलसी जैसे मर्यादा प्रेमी रामभक्त का शालीन स्वर हो या प्रपत्तिमूलक दैत्य, किसी भी स्तर पर ये हताश मानस की अभिव्यक्तियाँ नहीं हैं। इन सबके बीज चली आती हुई चिन्ता धाराओं में गहराई से जमे हुए हैं। वस्तुतः इसी भूमि से आचार्य द्विवेदी ने बड़े आत्मविश्वास के साथ कहा है कि 'अगर इस्लाम न भी आया होता तो भी इस साहित्य का बारह आना वैसा ही होता जैसा कि आज है।"[1] चार आने वाली बात यदि है भी तो केवल इसलिए कि इतिहास और संस्कृति के गहरे अध्येता होने के नाते आचार्य जी इस तथ्य को स्वीकार करते हैं कि एक जीवित जाति और एक जीवित संस्कृति का सम्पर्क जब दूसरी वैसी ही जाति तथा संस्कृति से होता है तो दोनों में आदान-प्रदान तथा दोनों का एक दूसरे से कमोवेश प्रभावित होना तथा प्रभावित करना स्वाभाविक है। अतः स्पष्ट है कि द्विवेदी जी सीमित मात्रा में साहित्य पर इस्लाम के प्रभाव को स्वीकार करते हैं। इनके अनुसार - "यह प्रभाव 'प्रभाव' के रूप में ही स्वीकार किया जाना चाहिए, प्रतिक्रिया के रूप में नहीं।"[2]

एक प्रश्न और अनुत्तरित रह जाता है कि उत्तर भारत में भक्ति आन्दोलन का प्रादुर्भाव 14वीं-15वीं शताब्दी में ही क्यों होता है? इसके पूर्व क्यों नहीं? जबकि दक्षिण भारत में छठीं से नवीं शताब्दी के काल में ही वैष्णव आलवारों तथा शैव नयनारों द्वारा प्रवाहित भक्ति-साहित्य ने आन्दोलन का रूप ग्रहण कर लिया था। डा0 नामवर सिंह ने इस प्रश्न का हल उस युग की परिस्थितियों में खोजने का प्रयास किया है। उनके अनुसार- "यदि प्रोफेसर हबीब के शोध निष्कर्ष सही है तो स्पष्ट है कि 13वीं- 14वीं सदी में तुर्कों के कारण भारतीय समाज के सामंती ढाँचे के अन्दर व्यापारी पूँजीवाद के विकास की दिशा में अवश्य ही

1- हिन्दी साहित्य की भूमिका: आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी , पृष्ठ 16

2- हिन्दी साहित्य की भूमिका: आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृष्ठ 32

कुछ उल्लेखनीय परिवर्तन हुए होंगे, जो देर-सबेर सामाजिक सम्बन्धों को प्रभावित करते हुए सांस्कृतिक-साहित्यिक परिवर्तन के लिए भी पृष्ठभूमि तैयार कर सके होंगे।"[1]

यह कैसे सम्भव हुआ? इसका उत्तर तत्कालीन प्रौद्योगिकी विकास और नगरीकरण के कारण होने वाले सामाजिक परिवर्तनों में ढूँढ़ा जा सकता है। तुर्कों के आगमन के कारण 13-14वीं शताब्दी में हुए प्रौद्योगिकी विकास के कारण अधिशेष उत्पादन में वृद्धि हुआ जिससे नगरीकरण एवं व्यापारिक पूँजीवाद की प्रक्रिया काफी तीव्र हुई। नई स्थितियों में कारीगरों और कामगारों की श्रेणियाँ पहले से मजबूत और अधिक संख्या में बनने लगी होगी। जिससे उनकी आर्थिक स्थिति में सुधार हुआ होगा। आर्थिक स्थिति में सुधार होने से उनमें अपनी सामाजिक स्थिति के प्रति तीव्र असन्तोष पैदा होना स्वाभाविक है। समता एवं भ्रातृत्व भाव वाले इस्लाम धर्म की उपस्थिति ने इसे अवश्य ही तीव्र किया होगा। दलित जातियाँ इस समय निःसन्देह पहले से कहीं सुविधाजनक स्थिति में रही होगी। एक तो अब उनको धर्म से बहिष्कृत किये जाने का कोई भय नहीं था- कारण, इस्लाम का विकल्प जो उपलब्ध था जिसे अंगीकार करके वे सामाजिक सोपान में ऊपर चढ़ सकती थीं। दूसरे बाजार-व्यवस्था एवं नगरों के विकास के कारण सामंतों एवं पुरोहितों की स्थिति अपेक्षाकृत कमजोर हुई होगी, साथ ही व्यापारी वर्ग की स्थिति में सुधार हुआ होगा। व्यापारी वर्ग भी अपनी सामाजिक स्थिति से असन्तुष्ट था। फलतः कदाचित निचले स्तर पर व्यापारी वर्ग और करीगरों, शिल्पकारों के बीच अनेक समान हित विकसित हुए होंगे। " ऐसी स्थिति में कट्टर पौराणिक मत और जाति व्यवस्था के बन्धन ढीले हुए हों यह अस्वाभाविक नहीं है।"[2]

इसी ऐतिहासिक पृष्ठभूमि, जिसने समाज के कट्टर रूढ़िवादी तत्वों को छोड़कर पूरे समाज में विशेष रूप से उसके निचले कहे जाने वाले हिस्से में अभूतपूर्व वैचारिक, धार्मिक एवं सामाजिक परिवर्तन की मानसिकता निर्मित की, भक्ति को लोकप्रिय आन्दोलन का रूप प्रदान किया।

1- दूसरी परम्परा की खोज: डा0 नामवर सिंह पृष्ठ 76

2- भक्ति काव्य के सामाजिक आयाम: डा0 लक्ष्मी नारायण वर्मा पृष्ठ 41।

अध्याय-दो

उन्नीसवीं सदी: लोकजागरण की भूमिका और उसका हिन्दी साहित्य पर प्रभाव

उन्नीसवीं सदी: लोक जागरण की भूमिका और उसका हिन्दी साहित्य पर प्रभाव

(1) 19वीं सदी का प्रारम्भ (18वीं सदी के परिप्रेक्ष्य में पृष्ठभूमि):

उन्नीसवीं शताब्दी एक ऐसा संधिकाल है जहाँ से भारतीय जीवन और समाज में नये परिवर्तनों की परम्परा आरम्भ हो जाती है, साथ ही कुछ परम्परागत मध्ययुगीन तत्व भी चलते रहते हैं। काल के प्रवाह में मध्ययुगीन तत्व पीछे छूटते जाते हैं और शताब्दी के उत्तरार्द्ध में नये परिवर्तनों की परम्परा स्पष्ट परिलक्षित होने लगती है। 19वीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध ईस्ट इण्डिया कम्पनी के विस्तार और प्रसार का काल था। इस अवधि में भारत की प्राय: समस्त देशी रियासतें समाप्त हो गईं और कम्पनी को इस देश की सार्वभौम सत्ता के रूप में मान्यता प्राप्त हुई। भारत में अपने शासन को सुदृढ़ता प्रदान करने तथा भारतीय संसाधनों के पूर्ण दोहन हेतु अंग्रेजों ने देश को एकरूप प्रशासनिक व्यवस्था प्रदान की। इस सन्दर्भ में भू-राजस्व-प्रशासन, पुलिस, कानून और व्यवस्था आदि क्षेत्रों में व्यापक परिवर्तन किये गये। साथ ही पाश्चात्य शिक्षा प्रणाली भी लागू की गयी। यह सब कुछ अंग्रेजों ने अपने हितों की पूर्ति के लिए किया किन्तु प्रकारान्तर से इससे भारत का आधुनिकीकरण भी हुआ। इस सम्पूर्ण प्रक्रिया पर विचार करते हुए सन् 1853 ई0 में 'न्यूयार्क डेली ट्रिब्यून' में प्रकाशित एक लेख में कार्ल मार्क्स ने लिखा है-

"यह सच है कि हिन्दुस्तान में सामाजिक क्रान्ति लाने के लिए ब्रिटेन ने जो कुछ किया था उसके पीछे उसके निकृष्ट स्वार्थो की पूर्ति का लक्ष्य निहित था। इसके लिए उसने जो तरीका अपनाया, वह दुष्टतापूर्ण था। पर प्रश्न यह नहीं है। प्रश्न यह है कि क्या मनुष्य- जाति एशिया की मौलिक व्यवस्था में सामाजिक क्रान्ति हुए बिना अपने लक्ष्य तक पहुँच सकती है? यदि नहीं तो इंग्लैण्ड ने जो अपराध किये हैं इस क्रान्ति को लाने में वह अनजाने इतिहास का हथियार बन गये।"[1]

1- हिन्दी साहित्य का दूसरा इतिहास: बच्चन सिंह, पृष्ठ 296

भारतीय संसाधनों के दोहन, भारतीयों के शोषण एवं भारत में ब्रिटिश साम्राज्य को सुदृढ़ता एवं विस्तार प्रदान करने हेतु अंग्रेजों ने पारम्परिक भौतिक एवं आर्थिक व्यवस्था में निम्न परिवर्तन किए। अनचाहे ही इन परिवर्तनों से व्यापक राजनीतिक -सामाजिक जागरण का मार्ग प्रशस्त हुआ।

(1) नई भू-राजस्व व्यवस्था:

अंग्रेजों ने पुरानी आर्थिक संरचना को बदला, जमीन का नया बन्दोबस्त किया। पहले जमीन सारे गाँव की मिल्कियत होती थी। समस्त ग्राम समुदाय पंचायत के माध्यम से राज्य या मध्यस्थ को गाँव के वार्षिक कृषि उत्पादन का निश्चित भाग भूमिकर के रूप में दिया करता था। अंग्रेजों द्वारा लागू की गयी नई भूमि व्यवस्था में गाँव कर निर्धारण और कर भुगतान की इकाई नहीं रह गये और जमीन की निजी मिल्कियत के साथ ही व्यक्तिगत कर निर्धारण और कर अदायगी की प्रथा शुरू हुई। कर निर्धारण और कर अदायगी का नया तरीका भी शुरू हुआ। सीधे राज्य को या बादशाह द्वारा नियुक्त मध्यस्थ को पहले जो लगान दिया जाता था वह वास्तविक फसल का एक भाग होता था और उसकी राशि हर वर्ष भिन्न-भिन्न हो सकती थी। इसकी जगह अब रूपये के नियम भुगतान की प्रथा आई जिसके अनुसार जमीन के आधार पर कर निर्धारण होता था। फसल चाहे अच्छी हो या बुरी, अधिक जमीन पर खेती हुई हो या कम पर वर्ष मे रूपये की एक निश्चित राशि देय होती थी।

जब वास्तविक वार्षिक उपज का एक अंश भूमिकर के रूप में राज्य को देय होता था, उस समय जमीन पर गाँव के सामुदायिक स्वत्व को कोई खतरा नहीं था। किसी साल फसल बर्बाद हो गयी तो उस साल का भूमिकर स्वत: च्युत हो जाता था, क्योंकि भूमिकर वास्तविक फसल के अंश के रूप में निर्धारित होता था। भूमिकर नहीं अदा कर पाने पर भी जमीन पर गाँव के अधिकार को कोई खतरा नहीं था। नई व्यवस्था में भूमिकर सालाना फसल के बदले जमीन के आधार पर रूपये के रूप

में निर्धारित होने लगा और जमींदार या भूमिधर कृषक को सामान्य राज्य के कर को प्रतिवर्ष हर हालत में पूरा करना पड़ता था, चाहे फसल अच्छी हुई हो या नष्ट हो गयी हो। इस व्यवस्था के साथ जमीन के क्रय-विक्रय की प्रथा शुरू हुई जिसका परिणाम कृषकों के लिए बहुत विनाशकारी रहा। जमीन धीरे-धीरे कृषकों के हाथ से निकलकर बड़े जमींदारों और साहूकारों के पास पहुॅचने लगी। इससे गॉव के सामुदायिक जन-जीवन की चूलें हिल गयीं। इसकी चर्चा करते हुए ए0आर0 देसाई लिखते हैं-

"जब फसल या अपनी औकात के बल पर किसान राज्य को भूमिकर नहीं चुका पाता, तब उसे अपनी जमीन रेहन करनी पड़ती थी या बय। इस तरह नए शासनतंत्र में जमीन का स्वत्व और स्वामित्व अनिश्चित हो गया। नई भूमि व्यवस्था ने गॉव के सामुदायिक जन-जीवन और उसकी स्वपर्याप्तता को बेतरह झकझोर दिया।"[1]

(2) हस्तशिल्प उद्योग का ह्रासः

18वीं शताब्दी तक भारतीय उद्योग-धन्धे संसार में सबसे अधिक विकसित थे। अंग्रेजों ने अपने निहित स्वार्थो की पूर्ति हेतु भारतीय शिल्प उद्योग को भारी नुकसान पहुॅचाया। वे भारतीय शिल्पियों तथा बुनकरों को लागत से कम मूल्य पर माल बेचने को बाध्य करते थे। साथ ही भारतीय माल पर ब्रिटेन में भारी आयात शुल्क लगाया जाता था जबकि भारत पर मुक्त व्यापार प्रणाली थोपकर उन्होंने ब्रिटिश माल पर निर्यात शुल्क से लगभग मुक्ति पा ली थी। ऐसी परिस्थिति में भारतीय हस्तशिल्प उद्योग ब्रिटेन के औद्योगिक क्रान्ति का मुकाबला नहीं कर सका और वह मृतप्राय हो गया।

नई भूराजस्व व्यवस्था और हस्तशिल्प के ह्रास से यद्यपि भारतीय कृषकों और शिल्पियों को भारी कष्ट पहुॅचा किन्तु इससे राष्ट्रीय चेतना के प्रसार को काफी बल मिला। पहले गॉव एक 'स्वतंत्र गणतंत्र' होते थे। वे स्वयं आत्मनिर्भर होते थे।

1- भारतीय राष्ट्रवाद की सामाजिक पृष्ठभूमिः ए0आर0 देसाई, पृष्ठ 34

बाह्य जगत से उनका सम्पर्क बहुत कम होता था किन्तु अब गाँवों की आर्थिक और प्रशासकीय आत्मनिर्भरता समाप्त हो गयी और वह विश्व अर्थ व्यवस्था पर निर्भर उसका एक साधारण अंग हो गया। इससे राष्ट्रीय चेतना के प्रसार का मार्ग प्रशस्त हुआ। ए0आर0 देसाई के शब्दों में-

"आत्मनिर्भर गाँव राष्ट्रीय चेतना और सम्मिलित राष्ट्रीय जीवन के विकास के रास्ते में बहुत बड़ी बाधा थे। हस्तशिल्प उद्योग के सतत विघटन ने आत्मनिर्भर गाँवों के आर्थिक नींव कमजोर कर इस राष्ट्रीय भाव की परिपक्वता के लिए मार्ग प्रशस्त किया।"[1]

(3) यातायात के साधनों का विकासः

19वीं शताब्दी में दुनिया भर में यातायात के साधनों में महत्वपूर्ण परिवर्तन हुआ। भारतवर्ष में भी रेल, बस, स्टीमशिप आदि ने लोगों को एक दूसरे के निकट लाने और उनमें राष्ट्रीयता और बैचारिक एकता की भावना भरने में सहायता पहुँचायी। भारत में रेलवे की स्थापना और विस्तार का मुख्य कारण औद्योगिक क्रान्ति से सम्पन्न इंग्लैण्ड के उत्पादनों को भारत में सुदूर गाँवों तक पहुँचाना तथा इंग्लैण्ड के कारखानों के लिए भारतीय मण्डियों से कच्चा माल प्राप्त करना था। आर्थिक लाभ के अतिरिक्त अंग्रेजों को बाहरी आक्रमणकारियों और आन्तरिक विद्रोहों से अपनी रक्षा के लिए भी गमनागमन की ओर ध्यान देना पड़ा। रेलों और सड़कों ने कृषि को व्यावसायिक बनाने में मदद पहुँचायी, दुनिया सिमट कर कम हो गयी और विभिन्न क्षेत्रों के लोगों को एक दूसरे से अल्प समय में सुविधानुसार मिलने का अवसर मिला। पूरा देश एक इकाई के रूप में बंध गया। छुआछूत, भेदभाव आदि में कमी आयी। अकाल के समय एक स्थान से दूसरे स्थान तक अन्न वस्त्र आदि भेजने की सुविधा प्राप्त हुई। पुस्तकों, पत्र-पत्रिकाओं

1- भारतीय राष्ट्रवाद की सामाजिक पृष्ठभूमिः ए0आर0 देसाई, पृष्ठ 80

आदि को दूर-दूर तक सरलतापूर्वक पहुँचाया जाने लगा। इससे पुराने संकीर्ण विचारों को भंग करने में सहायता मिली। राजनीतिक-सांस्कृतिक जागरण में आवागमन के साधनों की भूमिका पर टिप्पणी करते हुए ए0आर0 देसाई ने उचित ही कहा है-

"रेलवे, मोटर, बस और आवागमन के आधुनिक साधनों के बिना राष्ट्रीय स्तर पर राजनीतिक और सांस्कृतिक जीवन असम्भव होता। अगर ये साधन भारत में अंग्रेजी शासन को सुदृढ़ और सुरक्षित करने के माध्यम बने तो साथ ही उन्होंने इस शासन के विरुद्ध जनता के राजनीतिक आन्दोलन को संगठित करने का भी काम किया।"[1]

(4) नवीन शिक्षा प्रणाली:

19वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध तक लगभग सम्पूर्ण देश पर ईस्ट इण्डिया कम्पनी का शासन स्थापित हो चुका था। भारत में अंग्रेजों की राजनीतिक- प्रशासनिक और आर्थिक आवश्यकताओं ने खास तौर पर ब्रिटिश सरकार को इसके लिए प्रेरित किया कि वह भारत में स्कूल और कालेज खोले, जहाँ आधुनिक शिक्षा दी जा सके, क्योंकि ऐसी शिक्षा ही किसी आधुनिक राष्ट्र की आवश्यकताओं को पूरा कर सकती थी। अंग्रेजों की यह धारणा थी कि इस प्रकार की शिक्षा से भारतीयों में वे एक निष्ठावान वर्ग खड़ा कर देंगे जो अंग्रेजों के लिए पूर्ण स्वामिभक्ति के साथ क्लर्की आदि का कार्य कर सकें। जैसा कि मैकाले ने कहा था कि उद्देश्य यह था कि "व्यक्तियों का एक ऐसा वर्ग बनाया जाये जो रक्त और रंग से भारतीय हो परन्तु अपनी प्रवृत्ति, विचार, नैतिक मापदण्ड और प्रज्ञा से अंग्रेज हो।"[2]

अंग्रेजों ने आशा की थी कि पाश्चात्य शिक्षा से उत्पन्न ज्ञान जनता को ब्रिटिश शासन का सम्मान करना सिखायेगा और उसमें एक हद तक शासन के प्रति

1- भारतीय राष्ट्रवाद की सामाजिक पृष्ठभूमि: ए0आर0 देसाई, पृष्ठ 107

2- आधुनिक भारतीय इतिहास: बी0एल0 ग्रोवर, पृष्ठ 354

अपनत्व की भावना पैदा करेगा। किन्तु यह अनुमान पूर्णतः गलत साबित हुआ। पाश्चात्य शिक्षा प्राप्त भारतीयों ने अंग्रेजों के शोषण का पर्दाफाश कर ब्रिटिश शासन का वास्तविक चरित्र जनता के समक्ष उजागर किया। साथ ही उन्होंने अपने धर्म, दर्शन तथा रीति-रिवाजों को ज्ञान की कसौटी पर कसकर उनमें व्याप्त बाह्याडम्बरों तथा अंधविश्वासों को दूरकर सामाजिक प्रगति का मार्ग प्रशस्त किया। अधिकांश अंग्रेजों ने भारत के साहित्य और संस्कृति का बड़ा ही वीभत्स चित्र खींचा था। पाश्चात्य शिक्षा प्राप्त भारतीयों ने यह सिद्ध किया कि भारतीय साहित्य और संस्कृति किसी भी दूसरे देश की साहित्य और संस्कृति से पीछे नहीं है। पाश्चात्य शिक्षा प्राप्त भारतीयों के इन ऐतिहासिक कार्यों का उल्लेख करते हुए के0 दामोदरन लिखते हैं:-

"ब्रिटिश शिक्षा ने भारतीय बुद्धिजीवियों के सामने सामाजिक और राजनीतिक स्वातंत्र्य के नये क्षितिज उद्घाटित किये। शिक्षित भारतीयों ने एक ओर तो दूसरे देशों के प्रगतिशील विचारों और उनकी वैज्ञानिक उपलब्धियों की सराहना करना सीखा और दूसरी ओर नये ज्ञान की कसौटी पर स्वयं अपनी परम्पराओं, धर्म, दर्शन, रीति-रिवाजों और रुचियों को कसना सीखा। मैकाले ने सोचा था कि उनकी शिक्षा-प्रणाली भारतीयों की राष्ट्रीय चेतना को कुण्ठित कर देगी और उन्हें वफादार गुलाम बनाने में सफल होगी। किन्तु उसने दर असल जीवन के प्रति एक नये वैज्ञानिक दृष्टिबिन्दु का आधार तैयार किया और नये राष्ट्रीय जागरणों में भी सहायता पहुँचायी। दूसरे शब्दों में, अंग्रेजों की शिक्षा नीति ने भारतीय बुद्धिजीवियों का एक ऐसा नया वर्ग पैदा किया, जो पश्चिमी विज्ञान के मूल तत्वों तथा पश्चिम के अधिक उन्नत सांस्कृतिक मानदण्डों को समझते और आत्मसात करते थे, और साथ ही, स्वयं अपनी मातृभूमि की उन्नति के लिए उनका उपयोग करते थे।"[1]

1- भारतीय चिन्तन परम्रा: के0 दामोदरन पृष्ठ 358-359

इस नवीन शिक्षा प्रणाली द्वारा भारत का शिक्षित वर्ग समानता, स्वतंत्रता और राष्ट्रवाद के विचारों से एक ऐसे समय में परिचित हुआ जबकि औपनिवेशिक शासन को लेकर सर्वत्र असन्तोष फैला हुआ था। यद्यपि यह शिक्षा प्रणाली भारतीयों के एक छोटे-से वर्ग तक ही सीमित थी, तथापि इस शिक्षा के माध्यम से शिक्षित भारतीयों का परिचय यूरोप में चल रहे राष्ट्रवादी आन्दोलनों से हुआ। जैसे- जर्मनी और इटली का एकीकरण और तुर्की के साम्राज्य के विरुद्ध विभिन्न जातियों के राष्ट्रीय आन्दोलनों से। इसके अतिरिक्त भारतीयों का परिचय कई उदारवादी लेखकों और विचारकों जैसे- जॉन मिल्टन, शेली, बेंथम, जॉन स्टुअर्ट मिल, रूसो, वाल्टेयर,मेजिनी गैरी बाल्डी आदे के विचारों और लेखन से हुआ। जो भारतीय इंग्लैण्ड से शिक्षा प्राप्त करके लौटे, उन्होंने यह पाया कि जो अधिकार यूरोपीय देशों के नागरिकों को स्वत· ही प्राप्त थे, भारतीयों को उनसे वंचित रखा गया था। परिणामतः उन्होंने अंग्रेजी साम्राज्य का विरोध करना प्रारम्भ किया। बी0एल0 ग्रोवर के शब्दों में-

"पाश्चात्य शिक्षा का प्रचार यद्यपि प्रशासनिक. आवश्यकताओं के लिए किया गया था, परन्तु इससे नवशिक्षित वर्ग के लिए पाश्चात्य उदारवादी विचारधारा के द्वार खुल गये थे। मिल्टन, शैली, बेन्थम, मिल, स्पेन्सर, रूसो तथा वाल्टेयर ने भारतीय बुद्धिजीवियों में स्वतंत्रता, राष्ट्रीयता तथा स्वशासन की भावनायें जगा दीं और उन्हें अंग्रेजी साम्राज्य का विरोधाभास अखरने लगा।"[1]

किन्तु यह कहना उचित नहीं होगा कि भारतीय राष्ट्रवाद और नवजागरण भारत में अंग्रेजों द्वारा लायी गयी आधुनिक शिक्षा का परिणाम है। भारतीय राष्ट्रवाद का जन्म वस्तुत. नई सामाजिक-भौतिक स्थितियों के कारण हुआ, उन नई सामाजिक शक्तियों के कारण जो अंग्रजों की भारत विजय के बाद पैदा हुई-

---

1- आधुनिक भारतीय इतिहासः बी0एल0 ग्रोवर, पृष्ठ 402

"भारत का राष्ट्रीय आन्दोलन साम्राज्यवाद और इसकी शोषण व्यवस्था से पैदा हुआ...... .. शिक्षा व्यवस्था चाहे जो भी रहती, भारतीय बुर्जुआजी का उदय और ब्रिटिश बुर्जुआजी के प्रभुत्व के खिलाफ इसकी बढ़ती हुई प्रतिद्वंद्विता अवश्यंभावी थी। अगर भारतीय बुर्जुआजी को संस्कृत में लिखे गये वेदों की ही शिक्षा मिली रहती, दूसरी सारी विचारधाराओं से अलग, तो उन्हें वहीं अपने संघर्ष के सिद्धान्त और नारे मिल जाते।"[1]

इसी प्रकार कुछ लोग भ्रमवश पाश्चात्य शिक्षा को भारतीय नवजागरण का आधारभूत कारण मान लेते हैं, किन्तु यह सत्य नहीं है। मात्र पाश्चात्य शिक्षा के कारण नवजागरण नहीं आया। हॉ अनेक कारणों में से एक कारण वह भी था। इसे स्पष्ट करते हुए प्रो0 बच्चन सिंह ने कहा है-

"भौतिक परिस्थितियों के बदलाव और पाश्चात्य शिक्षा के प्रभाव को मुख्यतः नवजागरण का आधारभूत कारण मान लिया गया है। पर इस काल के महापुरुषों-राजा राममोहन राय, महादेव गोविन्द रानाडे, स्वामी दयानन्द और श्रीमती एनी बेसेन्ट- पर विचार करने से उपर्युक्त सामान्यीकरण खण्डित हो जाता है। इन लोगों के अतिरिक्त विवेकानन्द, नारायण गुरू और महात्मा फुले का पाश्चात्य शिक्षा से कोई सम्बन्ध न था। राजा राममोहन राय, रानाडे, विवेकानन्द अंग्रेजी शिक्षा से प्रभावित थे। इसलिए यह कहना कि पाश्चात्य शिक्षा के कारण नवजागरण आया, सही नहीं है। हॉ, अनेक कारणों में से एक कारण वह भी था। पाश्चात्य शिक्षा से प्रभावित लोगों तथा संस्कृत शिक्षा से प्रभावित व्यक्तियों ने तत्कालीन यथार्थ और समाज के रूपान्तरण को लगभग समान ढंग से ग्रहण किया।"[2]

1- भारतीय राष्ट्रवाद की सामाजिक पृष्ठभूमिः ए0आर0 देसाई, पृष्ठ 128

2- हिन्दी साहित्य का दूसरा इतिहासः बच्चन सिंह, पृष्ठ 299

(5) प्रेस और पत्र-पत्रिकाएँ:

नयी अर्थव्यवस्था और नवीन शिक्षा-पद्धति के कारण भारतीय जनता में एक ऐसी चेतना उत्पन्न हुई जिसके आधार पर लोग अपनी कठिनाइयों को समझने और उसको दूर करने की कोशिश करने लगे। इसके लिए प्रेस से बेहतर और कोई साधन नहीं हो सकता था। भारत में मुद्रण-यंत्र स्थापित करने का श्रेय पुर्तगालियों को है। 1550ई0 में उन्होंने दो मुद्रण-यंत्र मंगवाकर धार्मिक पुस्तकें छापनी आरम्भ कीं। अठारहवीं शताब्दी में मद्रास, कलकत्ता, हुगली, बम्बई आदि स्थानों में छापे खाने स्थापित हुए। अंग्रेजों और मिशनरियों ने समाचार पत्र निकाले, किन्तु भारत में राष्ट्रीय प्रेस के संस्थापक राजा राममोहन राय थे। उनके पहले भी कुछ लोगों ने कुछ अखबार शुरू किये थे, लेकिन उनके द्वारा 1821 में बंगाली में प्रकाशित 'संवाद कौमुदी' और 1822 ई0 में फारसी में प्रकाशित 'मिरातउल अखबार' भारत में स्पष्ट, प्रगतिशील, राष्ट्रिय एवं जनतांत्रिक प्रवृत्ति के सबसे पहले प्रकाशन थे। ये समाज सुधार के प्रचार और धार्मिक एवं दार्शनिक समस्याओं पर आलोचनात्मक वाद-विवाद के मुख्य पत्र थे। हिन्दी का पहला पत्र 'उदन्त मार्तण्ड' 1826 ई0 में प्रकाशित हुआ। उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में पत्र-पत्रिकाओं का प्रकाशन और भी अधिक संख्या में होने लगा। पत्र-पत्रिकाओं में साहित्यिक रचनाओं के प्रकाशन के साथ ही समसामयिक समस्याओं पर भी प्रकाश डाला जाता था। इससे नये विचारों के आदान-प्रदान में सुविधा हुई। विगलित सामाजिक- नैतिक रूढ़ियों के विरोध में पत्रों का अच्छा उपयोग किया गया। इनके माध्यम से अंग्रेजी हुकूमत की उन कार्यवाहियों का भी विरोध शुरू हुआ जो देश-हित के विरुद्ध पड़ती थीं। इनसे वैज्ञानिक दृष्टिकोण और राष्ट्रीयता के प्रचार-प्रसार में भी पर्याप्त सहयोग मिला। इस सन्दर्भ में प्रेस के महत्व पर प्रकाश डालते हुए ए0आर0 देसाई ने ठीक ही कहा है-

"भारतीय जनता के बीच राष्ट्रीय भाव और चेतना के उदय और उत्थान में उनके राष्ट्रीय आन्दोलन के संगठन और विकास में प्रादेशिक साहित्यों और संस्कृतियों की सृष्टि और विभिन्न देशों के साथ बंधुत्व की स्थापना में प्रेस की बहुत बड़ी भूमिका रही है।"[1]

1- भारतीय राष्ट्रवाद की सामाजिक पृष्ठभूमि: ए0आर0 देसाई, पृष्ठ 189

राष्ट्रीय चेतना का समाज सुधार के क्षेत्र में भी प्रसार हुआ। बम्बई में 1890 में 'इण्डियन सोशल रिफार्मर" नामक अंग्रेजी साप्ताहिक की स्थापना हुई। समाज सुधार ही इसका प्रमुख लक्ष्य था। 1881 में तिलक ने मराठी में 'केसरी' और अंग्रेजी में 'मराठा' का प्रकाशन शुरू किया। इसने राष्ट्रीय मुक्ति संग्राम की विचारधारा और कार्यपद्धति का प्रचार किया। 1899 ई0 में सच्चिदानन्द सिन्हा ने अंग्रेजी मासिक 'हिन्दुस्तान रिव्यू' की स्थापना की। इस पत्र का राजनीतिक और वैचारिक दृष्टिकोण उदारवादी था।

उपरोक्त भौतिक एवं आर्थिक परिवर्तनों से भारतीय समाज की जकड़बन्दी टूटी तथा वह विश्व के नूतन ज्ञान-विज्ञान एवं मानवीय गतिविधियों से परिचित हुआ। आवागमन के साधनों के विस्तार, पाश्चात्य शिक्षा के प्रसार तथा पत्र-पत्रिकाओं के प्रकाशन ने व्यापक सामाजिक-धार्मिक जागरण का मार्ग प्रशस्त किया।

(2) विभिन्न सुधार आन्दोलनों की भूमिका:

अठारहवीं शताब्दी मे राष्ट्रीय पतन के साथ आर्थिक दरिद्रता तो आई ही, धर्म एवं समाज भी बुरी तरह भ्रष्ट हुआ। उस समय अंधविश्वासों और धार्मिक आडम्बरों का सर्वत्र बोलबाला था तथा सारे देश में एक तरह का बौद्धिक दिवालियापन छाया हुआ था। इन धार्मिक आडम्बरों एवं कुरीतियों के विरुद्ध उन्नीसवीं शताब्दी में अनेक आन्दोलन प्रारम्भ हुए। उन्नीसवीं शताब्दी में व्यापक भौतिक एवं आर्थिक परिवर्तन हुए। सदियों से चली आ रही गॉवों की स्वायत्तता जाती रही और वे विश्व अर्थव्यवस्था के अंग बन गये। इससे भारतीय समाज की जकड़ बन्दी टूटी तथा शेष विश्व के साथ उसका सम्पर्क स्थापित हुआ। पाश्चात्य शिक्षा का प्रसार हुआ। शिक्षित भारतीय तर्कवाद, विज्ञानवाद तथा मानववाद से बहुत प्रभावित हुए। उधर ईसाई धर्मप्रचारक भारतीय धर्म एवं संस्कृति के लिए एक बड़ी चुनौती बरकर उभरे। इन परिस्थितियों में भारतीय नेताओं के अन्दर से हिन्दू धर्म को सुधारने का प्रयत्न किया और अन्ध विश्वास, मूर्तिपूजा तथा तीर्थयात्रा इत्यादि को तर्क के तराजू में तोलकर धर्म में सुधार किया। इस प्रकार एक नई "धर्म निरपेक्षता" की प्रवृत्ति ने जन्म लिया। इसके अनुसार धर्म को तर्क के दण्ड से मापा जाने लगा और निजी धर्म में जो भी असंगतियॉ थीं उन्हें छोड़ा जाने लगा और प्रयत्न यह किया गया कि जो परम्परागत विश्वास हैं, या तो उन्हें बदला जाय या उनके लिए कोई तर्कसंगत कारण खोजा जाय। इस प्रकार छुआछूत का विचार जो हिन्दू धर्म का अभिन्न अंग था, छोड़ दिया गया। इसी प्रकार अन्य सामाजिक- धार्मिक कर्मकाण्डों में आमूल-चूल परिवर्तन आए।

इन सुधार आन्दोलनों की एक प्रमुख विशेषता यह थी कि इनमें धार्मिक और सामाजिक सुधार पर समान ध्यान दिया गया। भारत में लगभग सभी सामाजिक कुरीतियॉ धार्मिक मान्यताओं पर आधारित थीं और इसलिए धर्म को सुधारे बिना समाज-सुधार सम्भव नहीं था। साथ ही भारतीय जीवन के भिन्न-भिन्न पक्षों में एक बहुत निकट का सम्बंध था। इसलिए सामाजिक और धार्मिक सुधार एक दूसरे के बिना सम्भव नहीं थे और उन्होंने एक दूसरे को प्रभावित भी किया। उदाहरणार्थ- समाज में स्त्री

उद्धार के साथ-साथ उसका धार्मिक कल्याण भी हुआ। सती, शाश्वत, वैधव्य तथा देवदासी प्रथा के समाप्त हुए बिना उसका सामाजिक कल्याण सम्भव नहीं हुआ और इसी परिवर्तन के परिणामस्वरूप ही उसे मताधिकार मिला। इस प्रकार स्पष्ट है कि सभी आन्दोलनों, सुधारकों एवं चिन्तकों द्वारा धार्मिक एवं सामाजिक सुधार पर समान ध्यान देना उस समय की परिस्थितियों में अनिवार्य था। अत: उन्नीसवीं शताब्दी के अनुसार आन्दोलनों एवं चिन्तकों के धर्म एवं समाज-दर्शन का अलग-अलग संक्षिप्त विवेचन समीचीन होगा। यह धर्म और समाज-दर्शन ही लोकजागरण का मुख्य आधार है।

लोगजागरण के मुख्यतत्व या आधार:

धर्म-दर्शन:

(1) राजा राममोहन राय और ब्रह्म समाज:

धर्म सुधार का प्रारम्भ बंगाल से हुआ और इस आन्दोलन का नेतृत्व राजा राममोहन राय ने किया। इसी कारण राममोहन राय को भारत के नवजागरण का अग्रदूत, सुधार आन्दोलन का प्रवर्तक एवं आधुनिक भारत का पहला महान नेता माना जाता है। इन्होंने 1828 ई0 में ब्रह्म समाज की स्थापना की। इनकी विचारधारा पर इस्लामी एकेश्वरवाद का स्पष्ट प्रभाव देखा जा सकता है। कर्मकाण्ड और अंध विश्वास का विरोध करने के लिए उन्होंने उपनिषदों का उपयोग किया और मूर्ति पूजा को धर्म का बाह्याडम्बर माना। अपने विशद ज्ञान और वैज्ञानिक एवं प्रगतिशील दृष्टिकोण की पृष्ठभूमि में राममोहन राय ने हिन्दू धर्म में उत्पन्न कुरीतियों एवं आडम्बरों पर गम्भीर प्रहार किया। उन्होंने मूर्ति पूजा की आलोचना की और सप्रमाण यह विचार व्यक्त किया कि हिन्दुओं के सभी प्राचीन मौलिक धर्म ग्रन्थों ने एक ब्रह्म का उपदेश दिया है। इस दावे के समर्थन में उन्होंने वेदों और पाँच मुख्य उपनिषदों का बंगला भाषा में अनुवाद किया। आज से पौने दो सौ वर्ष पहले वे अकेले व्यक्ति थे, जो अन्ध श्रद्धा और रूढ़ियों के विरुद्ध लड़ रहे थे। उनकी विचारधारा में तर्क की प्रधानता थी। उन्होंने अन्य धर्मो के प्रति उदार दृष्टिकोण अपनाने का उपदेश दिया। उन्होंने जनता

से मूर्तिपूजा और बहुदेववादी कर्मकाण्डों को त्यागकर शुद्ध निराकार ब्रह्म की उपासना करने का आह्वान किया। वे एकेश्वरवाद को भारतीय एकता का प्रतीक मानते थे। के0 दामोदरन के अनुसार-

"राजा राममोहन राय भक्ति आन्दोलन के कबीर, चैतन्य तथा अन्य धार्मिक संतों के समृद्ध मानवतावादी दृष्टिकोण की परम्परा के जो रामानुज और रामानन्द जैसे वेदान्तियों द्वारा प्रतिपादित औपनिषदिक एकत्ववाद पर आधारित थी, उपासक थे। इस अर्थ में राजा राममोहन राय द्वारा चलाया गया आन्दोलन भक्ति आन्दोलन की अगली कड़ी था।"[1]

राममोहन राय का प्राचीन ग्रन्थों एवं दर्शन में विश्वास था परन्तु अन्तिम रूप से वे मानव-विवेक और तर्क-शक्ति पर ही निर्भर करते थे। उनके अनुसार किसी भी सिद्धान्त- पाश्चात्य या प्राच्य- की सत्यता की अन्तिम कसौटी मानव-विवेक ही है। उनका विश्वास था कि वेदानत दर्शन भी इसी तर्क-शक्ति पर आधारित है। उनके अनुसार यदि कोई भी दर्शन, परम्परा आदि तर्क पर खरे न उतरे और वे समाज के लिए उपयोगी न हों तो मनुष्य को उन्हें त्यागने से नहीं हिचकना चाहिए। उन्होंने मानव विवेक को न केवल हिन्दू धर्म के सन्दर्भ में लागू किया, बल्कि उसके सहारे उन्होंने संसार के अन्य धर्मो की भी परीक्षा की। ईसाई धर्म में अंध विश्वासों की भी उन्होंने आलोचना की तथा ईश्वर के देवत्व (DIVINITY) को मानने से इन्कार कर दिया। फिर भी वे ईसा के नैतिक संदेशों के प्रशंसक थे और चाहते थे कि उन्हें हिन्दू धर्म में समाहित कर लिया जाए। वस्तुतः वे सभी धर्मो की अच्छाइयों को हिन्दू धर्म में सम्मिलित कर उसे उदात्त मानव धर्म के रूप में प्रस्तुत करना चाहते थे। इतिहासकार प्रो0 राम लखन शुक्ल के शब्दों में-

---

1- भारतीय चिन्तन परम्परा: के0 दामोदरन, पृष्ठ 363

"राममोहन राय संसार के सभी धर्मो की मौलिक एकता को स्वीकार करते थे। उनकी इच्छा थी कि ईसाई और इस्लाम धर्म की अच्छाइयों को हिन्दू धर्म में सम्मिलित कर तथा पश्चिम एवं पूर्व की संस्कृतियों के श्रेष्ठ तत्वों को मिलाकर उत्तम एवं महान संश्लेषण प्रस्तुत किया जाय। उन्होंने कहा कि संसार के सभी धर्मो का मौलिक उद्देश्य एक ही है और सभी धर्मावलम्बी भाई-भाई हैं।"[1]

(2) स्वामी दयानन्द सरस्वती और आर्य समाजः

उत्तरी भारत में हिन्दू धर्म और समाज में सुधार का काम स्वामी दयानन्द सरस्वती द्वारा आरम्भ हुआ। इन्होंने 10 अप्रैल 1875 ई० को बम्बई में 'आर्य समाज' की स्थापना की जिसका मुख्य उद्देश्य प्राचीन वैदिक धर्म का शुद्ध रूप से पुनः स्थापना करना था। शुरू में स्वामी जी ने अपने वीचारों का प्रचार शास्त्रार्थ और सामूहिक भोज आदि के माध्यम से प्रारम्भ किया, लेकिन बाद में उन्होंने पुस्तकें लिखकर अपने विचारों का प्रतिपादन किया। उन्होंने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'सत्यार्थ प्रकाश' में अपने मूल विचारों को व्यक्त किया।

दयानन्द का विश्वास था कि स्वार्थी एवं अज्ञानी पुरोहितों ने पुराणों जैसे ग्रन्थों के सहारे हिन्दू धर्म को भ्रष्ट किया है।, उनके अनुसार वेद ही हिन्दू धर्म का वास्तविक आधार है। वे ईश्वर से प्रेरित सभी ज्ञानों के स्रोत और भ्रमातीत हैं। बाकी सभी विचार जो वेदसंगत नहीं हैं, त्याज्य हैं। यद्यपि वेद ईश्वर प्रेरित हैं, पर उनकी व्याख्या मानव-विवेक द्वारा होनी चाहिए। उनका कहना था कि अपनी बुद्धि का प्रयोग करो और वैदिक मंत्रों के अर्थ को तर्क की कसौटी पर परखो और तब अपनाओ। उन्होंने कहा कि हर व्यक्ति को ईश्वर तक सीधे पहुँचने का अधिकार है। हिन्दू रूढ़िवादिता का विरोध करते हुए उन्होंने मूर्तिपूजा, बहुदेववाद, अवतारवाद, पशुबलि,

---

1- आधुनिक भारत का इतिहासः प्रो० राम लखन शुक्ल, पृष्ठ 232

श्राद्ध तथा झूठे कर्मकाण्डों और अंधविश्वासों का विरोध किया। स्वामी जी ने मानव के कर्म करने पर बल दिया। उनके अनुसार 'मानव भाग्य का खिलौना नहीं अपितु अपने भाग्य का निर्माता है।'

दयानन्द जी ने ब्राह्मण पुरोहित वर्ग के धार्मिक तथा सामाजिक पक्ष में सर्वोच्चता के दावे को भी चुनौती दी। सामाजिक क्षेत्र में उन्होंने छुआछूत, जन्मजात जाति, बाल विवाह तथा अन्य बुराइयों पर कुठाराघात किया।

आर्य समाज ने 'शुद्धि आन्दोलन' चलाया, इसमें हजारों ऐसे व्यक्तियों को पुन हिन्दू धर्म में शुद्धि द्वारा प्रवेश दिलवाया गया जिन्हें मुसलमान या ईसाई बना दिया गया था।

(3) महादेव गोविन्द रानाडे और प्रार्थना समाज:

रानाडे उन्नीसवीं शताब्दी के प्रमुख बुद्धिजीवी, विधिवेत्ता और मेधावी व्यक्ति थे। देश और समाज का कोई ऐसा पक्ष नहीं था, जिसकी ओर उनकी दृष्टि न गयी हो। रानाडे ने 1867 में बम्बई में प्रार्थना समाज की स्थापना में प्रमुख भूमिका निभाई नए ज्ञान की पृष्ठभूमि में हिन्दू धर्म और समाज में सुधार लाने के उद्देश्य से प्रार्थना समाज का संगठन किया गया था। इस समाज ने एक ब्रह्म समाज की उपासना का संदेश दिया और धर्म को जातिगत रूढ़ियों से मुक्त करने का प्रयास किया। समाज ने जाति-व्यवस्था और पुरोहितों के आधिपत्य की आलोचना की। प्रार्थना समाजियों ने अपने आपको किसी नवीन धर्म का अथवा हिन्दू धर्म के बाहर किसी नवीन सामानान्तर मत का अनुयायी नहीं माना, अपितु उन्होंने अपने समाज को मुख्य हिन्दू धर्म के अन्दर ही रखकर सुधारों के लिए आन्दोलन किया। उनके अनुसार मूल परम्परागत हिन्दू धर्म से अलग हुए बिना भी सुधार सम्भव था। प्रार्थना समाज की यही विशेषता उसे ब्रह्म समाज से अलग करती है।

(4) स्वामी विवेकानन्द और रामकृष्ण मिशन:

स्वामी विवेकानन्द का मुख्य प्रयोजन रामकृष्ण परमहंस के उपदेशों का प्रचार करना था। इसी उद्देश्य से इन्होंने 1897 ई0 में रामकृष्ण मिशन की स्थापना की। विवेकानन्द की भारतीय विचार तथा संस्कृति में पूर्ण आस्था थी परन्तु वे सभी धर्मो को सत्य मानते थे। उनके अनुसार सभी धर्म मौलिक रूप से एक हैं पर वे अपने विभिन्न रूपों में ईश्वर तक पहुँचने के अलग-अलग रास्ते मात्र हैं। उनके अनुसार कृष्ण, हरि, राम, ईसा, अल्लाह सब एक ही ईश्वर के भिन्न-भिन्न नाम हैं। वह मूर्ति पूजा में विश्वास रखते थे और उसे शाश्वत, सर्वशक्तिमान ईश्वर को प्राप्त करने का एक साधन मानते थे। परन्तु वह चिन्ह और कर्मकाण्ड की अपेक्षा आत्मा पर अधिक बल देते थे। वह ईश्वर के प्राप्ति के लिए उसके प्रति निःस्वार्थ और अनन्य भक्ति में आस्था रखते थे।

विवेकानन्द ने 1893 में शिकागो में हुई धर्मो की संसद (PARLIAMENT OF RELIGIONS) में भाग लिया और अपनी विद्वतापूर्ण विवेचना द्वारा लोगों को बहुत प्रभावित किया। उनके भाषण का तत्व यह था कि हमें भौतिकवाद तथा अध्यात्मवाद के बीच एक स्वस्थ संतुलन स्थापित करना है। मानवीय समता के विश्वासी होने के कारण उन्होनें जाति, सम्प्रदाय, छुआछूत आदि का विरोध किया। उन्होंने हिन्दुओं के कर्मकाण्ड एवं जातीय भेद-भाव की भर्त्सना की और स्वतंत्रता, समानता एवं स्वतंत्र चिंतन का उपदेश दिया। धार्मिक सौहार्द्र के लिए उन्होंने हिन्दू धर्म और इस्लाम के संगम को एकमात्र आशा बताया।

(5) एनी बेसेन्ट और थियोसोफिकल सोसायटी:

थियोसोफिकल सोसाइटी उन पश्चिमी विद्वानों द्वारा आरम्भ की गयी जो भारतीय संस्कृति और विचारों से बहुत प्रभावित थे। 1875 ई0 में मैडम एच0पी0 ब्लावेट्स्की और कर्नल एम0एस0 ओल्काट ने अमेरिका में की। 1882 ई0 में इन्हेंने अपनी सोसाइटी

का मुख्य कार्यालय मद्रास के निकट एक बस्ती अडयार में स्थापित किया। लेकिन भारत में इसकी सफलता का अध्याय तब शुरू हुआ जब 1893 ई0 में श्रीमती एनी बेसेण्ट भारत आईं और सोसायटी का कार्यभार संभाला।

इस सोसायटी के अनुयायी ईश्वरीय ज्ञान को आत्मिक हर्षोन्माद तथा अन्तर्ज्ञान (INTUTION) द्वारा प्राप्त करने का प्रयत्न करते थे। इन्होंने हिन्दू और बौद्ध धर्म जैसे प्राचीन धर्मो को पुनर्जीवित कर उन्हें मजबूत बनाने की वकालत की। ये लोग पुनर्जन्म तथा कर्म में विश्वास करते थे और सांख्य तथा उपनिषद के दर्शन द्वारा प्रेरणा प्राप्त करते थे। इनका विश्वास आध्यात्मिक भ्रातृत्व में था। यह आन्दोलन भी हिन्दू पुनर्जागरण का भाग बन गया।

एनी बेसेण्ट भारतीय विचार और संस्कृति से भलीभांति परिचित थीं और जैसा उनके भगवद्गीता के अनुवाद से प्रतीत होता है वह वेदान्त में विश्वास रखती थीं।

एनी बेसेंट का विचार था कि भारत की वर्तमान समस्यायें उनके प्राचीन आदर्शो एवं संस्थाओं के पुनर्जीवन और पुर्नप्रवेश से सुलझ सकती थीं। उनके अनुसार-

"भारतीय कार्य सबसे पहले पुराने धर्मो का पुनर्जीवन, दृढ़ीकरण और उत्थान है। इसके साथ चला आता है नवीन आत्म-सम्मान, अतीत के प्रति गौरव, भविष्य में विश्वास और अवश्यंभावी परिणाम के रूप में देश भक्तिपूर्ण जीवन की महान् लहर, राष्ट्र के पुनर्निर्माण का प्रारम्भ।"[1]

जिस समय ईसाई मिशनरी भारतीय धर्म-दर्शन की खुलेआम निन्दा कर रहे थे, भारतीय जनता विदेशी खान-पान, रहन-सहन तथा वेश-भूषा को ही प्रगति का मानक समझकर 'हिन्दुत्व' से मुँह मोड़ रही थी, धर्म परिवर्तन का काम जोरों पर था।

1- भारत का वृहत् इतिहासः दत्त, मजूमदार, राय चौधुरी तृतीय भाग, पृष्ठ 259

उस समय एनी बेसेंट ने भारतीय संस्कृति एवं 'हिन्दुत्व' की महिमा का गानकर भारतीय जनता में आत्म-विश्वास एवं स्वाभिमान की सृष्टि की तथा राजनैतिक एवं धार्मिक जागरण का सन्देश दिया।

(6) सर सैयद अहमद:

उन्नीसवीं शताब्दी के मुस्लिम सुधारकों में सर सैयद अहमद खाँ (1817-98 ई0) का नाम विशेष महत्व रखता है। सैयद अहमद का जन्म दिल्ली के एक ऐसे परिवार मे हुआ था जिसका सम्बन्ध मुगल दरबार से रहा था। अपने समय के योग्यतम विद्वानों से उन्हें शिक्षा ग्रहण करने का मौका मिला। प्रारम्भ से ही उनका मन जिज्ञासु था और उनमें एक सुधारक की विशेषतायें मौजूद थीं। 1839 में उन्होंने ईस्ट इण्डिया कम्पनी की नौकरी में प्रवेश किया।

सर सैयद अहमद ने कुरान पर टीका लिखी. तथा 'तहजीब-उल-अखलाक' नामक पत्रिका निकाली। वे आधुनिक वैज्ञानिक विचारों से पूर्णरूपेण प्रभावित थे, जिसका वे जिन्दगी भर इस्लाम से समन्वय कराने में प्रयत्नशील रहे। इस दृष्टि से उन्होंने घोषित किया कि इस्लाम धर्म के लिए केवल कुरान ही मान्य ग्रन्थ है, बाकी सभी लिखित सामग्री गौण है। लेकिन कुरान की व्याख्या उन्होंने आधुनिक विज्ञान और बुद्धि के प्रकाश में की। उनके अनुसार कुरान की कोई भी व्याख्या जो मानव विवेक और विज्ञान के विरुद्ध हो, सही नहीं है। उन्होंने परम्परा के अन्धा-धुन्ध अनुसरण, रूढ़िवादी रीति-रिवाजों, अज्ञान और विवेकहीनता का विरोध किया। उन्होंने धार्मिक कट्टरता, मानसिक संकीर्णता और अलगाववाद का भी विरोध किया और मुलसमानों को सहनशील और उदार होने को कहा।

सैयद अहमद धार्मिक सहिष्णुता और सभी धर्मों की अन्तर्निहित एकता में विश्वास रखते थे। वे साम्प्रदायिक टकराव के विरोधी थे। 1883 ई0 में उन्होंने लिखा था-

" हम दोनों (हिन्दू और मुसलमान) एक ही देश के हैं, हम एक राष्ट्र के हैं और देश की प्रगति तथा भलाई, हमारी एकता, पारस्परिक सहानुभूति और प्रेम पर निर्भर है, जबकि हमारी पारस्परिक असहमति, जिद और विरोध तथा दुर्भावना हमारा विनाश निश्चित रूप से कर देगी।"[1]

लेकिन जीवन के अन्तिम वर्षो में उनका दृष्टिकोण साम्प्रदायिक हो गया था और तब वे हिन्दू और मुसलमानों को न केवल दो राष्ट्र अपितु विरोधी राष्ट्र भी मानने लगे थे। उन्होंने अपने समर्थकों को अंग्रेजों का साथ देने और उन्हें भारत के राष्ट्रीय आन्दोलन से अलग रहने की सलाह दी थी।

(7) **ज्योतिबा फुलेः**

महाराष्ट्र में धार्मिक-सामाजिक सुधार का बीड़ा ज्योतिबा फुले (1827-90 ई0) ने उठाया। उन्होंने तत्कालीन समाज एवं धर्म में व्याप्त कुरीतियों एवं आडम्बरों के निवारण हेतु 1873 ई0 में "सत्यशोधक समाज' की स्थापना की। समाज ने एकेश्वरवाद का प्रचार किया तथा ईश्वर को निर्गुण, निर्विकार एवं सत्स्वरूप माना। समाज ने बहुदेववाद, तथा मूर्ति पूजा का विरोध किया तथा पुनर्जन्म, कर्मकाण्ड, जप-तप आदि बातों को अज्ञानमूलक बताया। समाज की मान्यता थी कि ईश्वर की भक्ति करने का प्रत्येक मनुष्य को पूर्ण अधिकार है और इसके लिए उसे किसी मध्यस्थ की कोई आवश्यकता नहीं होती। इस प्रकार सत्यशोधक समाज ने भक्ति के क्षेत्र में मध्यस्थों यथा धर्माचार्यो एवं पंडों-पुरोहितों के अस्तित्व को ही नकार दिया। 'समाज' की मान्यता थी कि कोई भी ग्रन्थ न तो ईश्वर प्रणीत है और न पूर्ण प्रमाणिक। 'समाज' ने पाप, पुण्य, मोक्ष और उसके लिए पुनर्जन्म या स्वर्ग की बात को मिथ्या माना। उसके अनुसार अपने कार्यो द्वारा ही मनुष्य इस मृत्यु लोक में स्वर्ग अर्थात्, मृत्यु अर्थात् दुःख का निर्माण कर सकता है। ये सब उस के कर्म का फल है। दुःखों से मुक्ति देने के

1- आधुनिक भारत का इतिहासः संपा0 प्रो0 राम लखन शुक्ल, पृष्ठ 249

लिए ईश्वर न तो अवतार लेते हैं और न आदेश देते हैं। मनुष्य को अपना मार्ग स्वयं बनाना है। इसके लिए न तो तीर्थो में जाने की आवश्यकता है न गुरू प्रसाद की। मनुष्य के सद्विचार ही उसके गुरू हैं।

(8) **महात्मा गाँधी:**

गाँधी जी धार्मिक प्रकृति के व्यक्ति थे। उन्होंने स्वयं को राजनीति के आवरण में रहने वाला एक धार्मिक व्यक्ति माना। गाँधी जी बाह्य आडम्बरयुक्त तथा प्रथात्मक धर्म में आस्था नहीं रखते थे। वे धर्म के उस सार में विश्वास रखते थे जो कि सभी धर्मो में पाया जाता है तथा जो हमें ईश्वर का साक्षात्कार कराता है। सत्य तथा धर्मपरायणता या सदाचार से बढ़कर कोई धर्म नहीं है। गाँधी जी हिन्दू धर्म में व्याप्त बाह्याडम्बरों एवं पाखण्डों के विरोधी थे तथा हिन्दू धर्म की पवित्रता एवं प्रासंगिकता के लिए उन्हें दूर करना आवश्यक समझते थे। उनके अनुसार हिन्दू धर्म प्रारम्भ से ही गंगा के समान पवित्र है परन्तु जिस प्रकार गंगा के बीच में आकर कुछ गन्दी धारायें मिल जाती हैं उसी प्रकार हिन्दू धर्म में भी कुछ बुराइयाँ आ गयी हैं जिन्हें दूर करना नितान्त आवश्यक है।

गाँधी जी सर्वधर्म-समभाव के हिमायती थे। मत-मतान्तरों तथा परस्पर धार्मिक दोषारोपणों के मध्य व्याप्त संघर्ष ने उन्हें काफी विचलित किया। वे यह चाहते थे कि प्रत्येक व्यक्ति अपने धर्म का सच्चा अनुयायी बने तथा वह धर्म परिवर्तन के विचार को मान्यता न दे। उनके शब्दों में-

"हमें अपने मध्य से यह धारणा निकाल देनी चाहिए कि हमारा धर्म अधिक सच्चा है तथा दूसरे व्यक्तियों का धर्म हमारे धर्म की तुलना में कम सच्चा है। हमारा अन्य सभी धर्मो के प्रति दृष्टिकोण स्पष्ट तथा उदार होना चाहिए।"[1]

1- गाँधी, टैगोर और नेहरू: प्रो0 जे0एल0 काचरू, पृष्ठ 58

(2) सुधार आन्दोलनों का सामाजिक-राजनीतिक दर्शन:

(1) राजा राममोहन राय और ब्रह्म समाज:

आधुनिक भारत की नींव का पहला पत्थर राजा राममोहन राय ने रखा। उनके नेतृत्व में ब्रह्म समाज ने सभी प्रकार की सामाजिक कुरीतियों पर प्रहार किया जिसमें सती-प्रथा, बहु-विवाह, बाल-विवाह और जाति-प्रथा की कुरीतियाँ मुख्य हैं। उन्होंने विधवा विवाह, समुद्र-यात्रा आदि का समर्थन किया। वे स्त्रियों की मुक्ति के प्रबल समर्थक थे। 1828 ई0 में उनकी 'हिन्दू उत्तराधिकार नियम के महिलाओं के प्राचीन अधिकारो पर आधुनिक अतिक्रमण' नामक पुस्तिका का प्रकाशन हुआ। इस पुस्तिका में उन्होंने स्त्रियों के साथ होने वाले सभी प्रकार के भेदभाव और कुरीतियों का विरोध किया। उन्होंने भारतीय स्त्रियों की दशा सुधारने के लिए ब्रिटिश सरकार से निवेदन किया तथा सती-प्रथा का उन्मूलन करने के लिए कानून बनाने पर बल दिया। इस सन्दर्भ में उनके विचारों की विवेचना करते हुए के0 दामोदरन लिखते हैं-

"1818 मे उन्होंने एक ज्ञापन पत्र पेश किया जिसमें उन्होंने घोषणा की कि सती-प्रथा वास्तव में प्रत्येक शास्त्र के अनुसार, साथ ही सभी राष्ट्रों की सामान्य सूझ-बूझ के अनुसार निरी हत्या है। उन्होंने इस प्रथा के पीछे छिपे आर्थिक स्वार्थ का पर्दाफाश किया। उन्होंने बताया कि किस प्रकार मृत मनुष्य की विधवा पत्नी को सम्पत्ति न देने का लोभ ही कट्टरपंथी पंडितों को इस प्रथा का समर्थन करने के लिए उकसाता है।"[1]

राजा राममोहन राय के सतत प्रयासों का ही फल था कि गवर्नर जनरल लार्ड विलियम बैंटिक ने 4 दिसम्बर 1829 को अधिनियम-17 पारित किया जिसके अनुसार विधवाओं का जीवित जलाना बंद कर दिया गया और न्यायालयों को आज्ञा हुई कि वे ऐसे मामले में सदोष मानव हत्या के अनुसार मुकदमा चलायें और दोषियों को

1- भारतीय चिन्तन परम्परा: के0 दामोदरन पृष्ठ 366

दण्ड दें। इस अधिनियम में कडाई से अनुपालन के चलते सती-प्रथा लगभग समाप्त हो गयी।

राजा साहब देश के राजनीतिक प्रश्नों पर जन-आन्दोलन के प्रवर्तक भी थे। उन्होंने बंगाल के जमींदारों की उत्पीड़क कार्यवाईयों की निन्दा की तथा किसानों का लगान कम करने का अनुरोध किया। उन्होंने उच्च सेवाओं के भारतीयकरण, कार्यपालिका और न्यायपालिका को एक दूसरे से अलग करने, जूरी के जरिये मुकदमों की सुनवाई और भारतीयों तथा यूरोपवासियों के बीच न्यायिक समानता, प्रेस की स्वतंत्रता आदि की मांग की।

(2) स्वामी दयानन्द सरस्वती और आर्य समाज:

स्वामी दयानन्द सरस्वती और उनके आर्य समाज ने सामाजिक सुधार के क्षेत्र में उल्लेखनीय कार्य किया। आर्य समाजियों ने स्त्रियों की दशा सुधारने एवं उनमें शिक्षा का प्रसार करने के लिए स्तुत्य प्रयास किया। शिक्षा के प्रसार हेतु 'समाज' ने वृहत् पैमाने पर 'दयानन्द एंग्लो-वैदिक' कालेजों की स्थापना की। 'समाज' ने जाति-प्रथा छुआछूत, बाल-विवाह, बेमेल-विवाह, बहु-विवाह, वृद्ध-विवाह आदि का विरोध किया और विधवा-विवाह तथा स्त्री-शिक्षा आदि का समर्थन किया। 'समाज' ने सामाजिक समानता एवं एकता को अपना आदर्श माना। स्वामी जी ने जन्म पर आधारित वर्ण व्यवस्था का विरोध किया। वे वर्ण व्यवस्था जन्म से नहीं अपितु कर्म से मानते थे,अर्थात् केवल व्यवसाय के अनुसार ही कोई व्यक्ति ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र हो सकता है, परन्तु ये चारों वर्ण समान हैं और इनमें कोई अस्पृश्य नहीं है। इस प्रकार दयानन्द ने हिन्दू समाज में समानता की उस भावना को जाग्रत किया जो आज हमें अपने संविधान में देखने को मिलती है। स्वामी जी के सामाजिक कार्यों का मूल्यांकन करते हुए इतिहासकार बी0एल0 ग्रोवर ने लिखा है-

"भारत के सामाजिक इतिहास में वह पहले सुधारक थे जिन्होंने शूद्र तथा स्त्री को वेद पढ़नें तथा ऊँची शिक्षा प्राप्त करने, यज्ञोपवीत धारण करने तथा

अन्य सभी पक्षों से ऊँची जाति तथा पुरुषों के बराबर के अधिकार प्राप्त करने के लिए आन्दोलन किया। परन्तु सबसे अधिक कार्य उन्होंने स्त्रियों की स्थिति सुधारने के लिए किया। उनके अनुसार पुत्र तथा पुत्रियाँ समान हैं"[1]

स्वामी जी के राजनीतिक विचार भी क्रान्तिकारी थे। वे पहले व्यक्ति थे जिन्होंने घोषणा की कि भारत भारतीयों का है। उन्होंने बड़े निर्भीक भाव से विदेशी राज्य को चाहे वह कितना भी अच्छा क्यों न हो, स्वदेशी शासन की तुलना में हेय ठहराया था। उनके आर्थिक विचारों में स्वदेशी का विशेष महत्व था। उनकी शिक्षा के फलस्वरूप देशवासियों में स्वदेशी और देशभक्ति की भावना का व्यापक प्रसार हुआ।

(3) महादेव गोविन्द रानाडे और प्रार्थना समाज:

प्रार्थना समाज ने समाज-सुधार के क्षेत्र में उल्लेखनीय कार्य किया। इसके अनुयायियों ने हिन्दू रूढ़िवादियों से टक्कर लेने के बजाय शिक्षा तथा समझाने-बुझाने पर बल दिया। समाज-सुधार में उनके चार प्रमुख उद्देश्य थे। (1) जाति-पाँति का विरोध (2) पुरुषों तथा स्त्रियों की विवाह की आयु बढ़ाना (3) विधवा पुनर्विवाह (4) स्त्री शिक्षा। रानाडे ने एक 'राष्ट्रीय सामाजिक सम्मेलन' की स्थापना की जिसका उद्देश्य सामाजिक कुरीतियों से जूझने वाले देश भर में बिखरे विभिन्न संगठनों और आन्दोलनों के प्रतिनिधियों को पारस्परिक मंत्रणा और परामर्श के लिए प्रतिवर्ष एक जगह एकत्र कर देश में सुधार चाहने वाली शक्तियों को सुदृढ़ बनाना तथा प्रोत्साहित करना था। सामाजिक सुधारों के इस आन्दोलन ने नीची जातियों को भी प्रभावित किया। उन्नीसवीं शती के अन्त में महाराष्ट्र,बंगाल, मैसूर तथा केरल की नीची जातियों में जो नवजागृति आयी वह रानाडे के प्रयासों का ही फल था।

1- आधुनिक भारत का इतिहास: बी0एल0 ग्रोवर पृष्ठ 383

(4) स्वामी विवेकानन्द और रामकृष्ण मिशनः

स्वामी विवेकानन्द महान मानवतावादी थे। वे मनुष्य-विशेषकर गरीब, अपंग और कमजोर- की सेवा को ईश्वर की सेवा मानते थे। उनका मत था कि सभी मनुष्य की आत्मा में परमात्मा का अंश है। इसीलिए उन्होंने मानव-मानव के बीच विभेद पैदा करने वाली सभी सामाजिक रूढ़ियों का विरोध किया। उन्होंने जाति-पाँति, छुआछूत, अस्पृश्यता, सती-प्रथा, बाल-विवाह जाति के विरुद्ध धर्म-युद्ध का आह्वान किया। उन्होंने सामाजिक व्यवस्था में आमूल परिवर्तन का आह्वान किया, जिससे समाज के सभी सदस्यों को सम्पत्ति शिक्षा अथवा ज्ञान प्राप्त करने के लिए समान अवसर मिल सके। और घोषणा की कि वे सामाजिक नियम, जो इस स्वतंत्रता के विकास में आड़े आते हैं, हानिकर हैं और उन्हें शीघ्रातिशीघ्र समाप्त करने के लिए कदम उठाये जाने चाहिए।

विवेकानन्द जी की गरीबों के प्रति प्रगाढ़ सहानुभूति थी। उनका मानना था कि भूखे व्यक्ति से धर्म की बात कहना ईश्वर तथा मानवता का अपमान है। शिक्षित समुदाय तथा उच्च वर्ग की भर्त्सना करते हुए उन्होंने कहा है-

"जब तक लाखों लोग भूख तथा अज्ञान का जीवन व्यतीत करते हैं, मैं उस प्रत्येक व्यक्ति को देशद्रोही मानता हूँ जिसने विद्या तथा ज्ञान तो उनके व्यय पर प्राप्त किया है और अब उनकी रत्ती भर भी परवाह नहीं करता।"[1]

विवेकानन्द ने कोई राजनीतिक संदेश नहीं दिया परन्तु फिर भी उन्होंने अपने लेखों तथा भाषणों द्वारा नई पीढ़ी में अपने अतीत में एक नवीन आत्म-गौरव की भावना जगाई और भारतीय संस्कृति में नया विश्वास तथा भारत के भविष्य में एक नया आत्म-विश्वास पैदा किया। वह एक पक्के देशभक्त थे। नेताजी सुभाषचन्द्र बोस ने उनके बारे में कहा है-

---

1- आधुनिक भारत का इतिहासः बी0एल0 ग्रोवर, पृष्ठ 387

"जहाँ तक बंगाल का सम्बन्ध है, हम विवेकानन्द को आधुनिक राष्ट्रीय आन्दोलन का 'आध्यात्मिक पिता' कह सकते हैं।"[1]

(5) ईश्वर चन्द्र विद्यासागर:

ईश्वर चन्द्र विद्यासागर महान विद्वान् प्रबल मानवतावादी तथा हिन्दू समाज में ~~समाज में~~ व्याप्त कुरीतियों के कट्टर विरोधी थे। पददलित नारी जाति के उत्थान में उन्होंने अपना सर्वस्व होम कर दिया। बहु-विवाह, बाल विवाह, सती-प्रथा आदि को शास्त्र-विरुद्ध घोषित कर विधवा विवाह को प्रोत्साहन दिया। उनके प्रयासों के परिणाम स्वरूप 16 जुलाई 1856 'हिन्दू विडो रिमैरिज एक्ट' पास हुआ। इस आन्दोलन को बल प्रदान करने के लिए उन्होंने अपने पुत्र का विवाह एक विधावा बालिका से कर दिया। स्मरणीय है कि देश के उच्च वर्ग में पहला कानूनी विधवा-पुनर्विवाह उन्हीं के नेतृत्व में हुआ। इसके लिए उन्हें बंगाली जनता का कोपभाजन भी बनना पड़ा। लेकिन यह उनके अथक परिश्रम का ही फल था कि कम्पनी सरकार को न केवल विधवा विवाह को एक कानून बनाकर वैध घोषित करना पड़ा बल्कि उनकी सन्तानों की वैधता भी स्वीकार करनी पड़ी।

इस आन्दोलन का समाज पर बहुत गहरा प्रभाव पड़ा। साहित्य में भी विधवा-पुनर्विवाह को केन्द्र में रखकर रचनायें की जाने लगीं । बंगाल में विधवा-विवाह के पक्ष में सबसे अधिक लिखा पढ़ी एवं प्रमाण संकलन विद्यासागर जी के द्वारा किया गया। परम्परानिष्ठ हिन्दू होने के बावजूद वे सामाजिक सन्दर्भो में अत्यन्त प्रगतिशील थे।

विद्यासागर जी की नारी शिक्षा में भी विशेष रुचि थी। उन्होंने अनेक बालिका विद्यालयों की स्थापना की तथा स्त्री-शिक्षा को बढ़ावा दिया। विद्यासागर

1- आधुनिक भारत का इतिहास: बी0एल0 ग्रोवर, पृष्ठ 387

जी मानवोपयोगी भारतीय तथा पश्चिमी तत्वों के समन्वय के प्रबल पक्षधर थे । संस्कृत कालेज में भी उन्होंने पाश्चात्य शिक्षा का आरम्भ किया। संस्कृत पर केवल ब्राह्मणों का ही अधिकार है इसका विरोध करते हुए उन्होंने संस्कृत कालेज के द्वार गैर ब्राह्मण जातियों के लिए भी खोल दिय। इस प्रकार विद्यासागर जी ने अपने क्रान्तिकारी कार्यों के द्वारा समाज को नई दिशा देने का प्रशंसनीय कार्य किया।

(6) श्रीनारायण गुरू:

केरल जैसे क्षेत्र भी - जहाँ जातियाँ और उप-जातियाँ तथा अस्पृश्यता बहुत गहरी जड़े जमाये थे- देश में फैल रही नवजागरण की लहर से अछूतें नहीं रह सके। केरल में सुधार आन्दोलन के प्रवर्तक श्री नारायण गुरू थे। उनका जन्म 1854 ई0 में दक्षिणी केरल में एक अस्पृश्य ईमवा जाति में हुआ था। अद्वैत दर्शन का इन पर व्यापक प्रभाव था किन्तु, उन्होंने अपने दृष्टि-बिन्दु को कभी जाति-आध्यात्मिकता से धूमिल नहीं होने दिया। केरल तथा केरल के बाहर कई स्थानों पर एस0एन0डी0पी0 (श्री नारायण धर्म परिपालन योगम्) नाम की एक संस्था तथा उसकी शाखायें स्थापित कीं। श्री नारायण गुरू तथा उनके सहयोगियों ने ईझवा जाति के उत्थान के लिए दो बिन्दु का कार्यक्रम बनाया। पहला था कि- अपनी से नीची जातियों के प्रति अस्पृश्यता की प्रथा को समाप्त करना। दूसरा- अनेक मन्दिरों का निर्माण, जिसमें बिना किसी जाति-भेद के लोग पूजा-अर्चना कर सकें। यह उच्च जातियों के विरुद्ध विद्रोह था, कारण यह कि इन दिनों केवल ब्राह्मण ही मन्दिरों की स्थापना कर सकते थे। ब्राह्मणों के इन मन्दिरों में अस्पृश्य और नीच जाति वाले लोगों को प्रवेश करने की अनुमति नहीं थी। नये मन्दिरों का नीच जाति के हिन्दुओं ने भी हृदय से स्वागत किया। नारायण गुरू को अस्पृश्य जातियों को पिछड़ी हुई जातियों में परिवर्तित करने में विशेष सफलता मिली। के0 दामोदरन के अनुसार-

"इस सुधारक ने सामंतवादी व्यवस्था पर जो आक्रमण किया, वह अत्यन्त प्रभावशाली था। श्री नारायण गुरू ने जाति प्रथा का विरोध किया और आधुनिक शिक्षा तथा आधुनिक शिक्षा संस्कृति को प्रोत्साहित किया। उन्होंने औद्योगिक क्रिया-कलापों

को भी बहुत महत्व दिया। ..... उन्होंने अपना सारा जीवन और शक्ति मध्ययुगीन अंधविश्वासों, जाति-प्रथा के आतंक और दलितों के सामन्ती अवशोषण के विरुद्ध संघर्ष को अर्पित कर दिया।"[1]

(7) बी0एम0 मालाबारी:

19वीं शताब्दी में बाल-विवाह एक गम्भीर सामाजिक समस्या थी। उस समय अत्यन्त कम उम्र में लड़के-लड़कियों का विवाह कर दिया जाता था जिससे इनके शारीरिक-मानसिक स्वास्थ्य पर बहुत प्रतिकूल प्रभाव पड़ता था। साथ ही कुपोषण, चिकित्सीय सुविधाओं के अभाव में बच्चों की मृत्यु दर बहुत अधिक थी तथा विधवा-विवाह का बहुत कम प्रचलन होने के कारण अनेक बाल-विधवाओं को पूरे जीवन भर वैधव्य झेलना पड़ता था और उन्हें अनेक सामाजिक वर्जनाओं का सामना करना पड़ता था जिससे इनका जीवन नरकमय हो जाता था। बाल-विवाह को रोकने के लिए अनेक लोगों ने आन्दोलन चलाया और अन्त में एक पारसी सुधारक बी0एम0 मालाबारी के प्रयत्नों के फलस्वरूप 1891 में सम्मति आयु अधिनियम (AGE OF CONSENT ACT) पारित किया गया जिससे 12 वर्ष से कम आयु की कन्याओं के विवाह पर प्रतिबन्ध लगा दिया गया।

एक अन्य क्रूर प्रथा जो विशेषतः बंगालियों और राजपूतों में प्रचलित थी, वह थी बालिका शिशुओं को एक महान आर्थिक भार मानकर उनकी शैशव काल में हत्या करना। दहेज के भार से डरकर अथवा किन्हीं अन्य कारणों से कन्याओं का विवाह न कर पाने की स्थिति में सामाजिक तथा धार्मिक दृष्टि से भी वे पाप के भागी बनते थे। अतः शिशुओं को मादक पदार्थ देकर अथवा भूखा रखकर उनकी हत्या कर दी जाती थी।

1- भारतीय चिन्तन परम्परा: के0 दामोदरन, पृष्ठ 386-387

प्रबुद्ध भारतीयों और अंग्रेजों ने इस घृणित प्रथा की बहुत आलोचना तथा निन्दा की और अन्त में 1795 में बंगाल नियम-21 और 1804 के नियम 3 से शिशु हत्या को साधारण हत्या के बराबर मान लिया गया। भारतीय रियासतों के रेजिडेंटों को भी कहा गया कि वे रियासतों में इस कुप्रथा को बन्द करने के प्रयत्न करें। इसी प्रकार 1843ई0 में समस्त भारत में दासता अवैध घोषित कर दी गयी और मालिकों को कोई प्रतिकर (COMPENSATION) दिये बिना सभी दास स्वतंत्र कर दिये गये।

(8) ज्योतिबा फुले:

ज्योतिबा फुले का विश्वास था कि शिक्षा ही सामाजिक सुधार की नींव है। अत उन्हेंने शिक्षा के प्रसार हेतु सतत प्रयास किया। फुले ने स्त्रियों तथा निम्न जातियों के लिये पूना में एक पाठशाला चलाया। उनका विश्वास था कि जब तक स्त्रियों और अछूतों की सर्वांगीण उन्नति नहीं होती, तब तक समाज में सुधार नहीं हो पायेगा। उन दिनों स्त्रियों पर तरह-तरह के प्रतिबन्ध थे। फुले ने इन प्रतिबन्धों का विरोध किया। उस समय विधवा स्त्रियों द्वारा केश रखने की प्रथा नहीं थी। उनका मुण्डन करा दिया जाता था। ज्योतिबा ने इसका विरोध किया तथा नगर के नाई को संगठित कर उन्हें विधवाओं के केश न काटने के लिए समझाया। फुले ने सती प्रथा की निन्दा की तथा विधवा विवाह का पुरजोर समर्थन किया। 8 मार्च 1860ई0 को उन्होंने एक विधवा विवाह कराया जिसका रूढ़िवादियों ने बहुत विरोध किया। किन्तु वे विचलित नहीं हुए और विधवा-विवाह के पक्ष में जनमत तैयार करने के काम में लगे रहे। इस सन्दर्भ में उनके विचारों को व्यक्त करते हुए उनके जीवनी लेखक दुर्गा प्रसाद शुक्ल ने लिखा है-

'विधवाओं का फिर से विवाह कराना एक सामाजिक दायित्व है। समाज को आगे आकर यह करना चाहिए। इसे विधवाओं का सम्मान करना चाहिए। उसे आश्रय

देना चाहिए। उन्होंने सिद्ध किया कि हिन्दू धर्मग्रन्थों में विधवाओं के पुनः विवाह पर कोई प्रतिबन्ध नहीं है।"[1]

फुले ने बाल-विवाह , शिशु हत्या तथा बहु-विवाह, छुआछूत , जाति-प्रथा आदि का भी विरोध किया। उन्होंने एक प्रसूति गृह और बाल हत्या प्रतिबंधक संस्था की स्थापना की। 1873 में उन्होंने 'सत्यशोधक समाज' नामक संगठन का गठन किया जिसका उद्देश्य था समाज के कमजोर वर्ग को सामाजिक न्याय दिलाना। समाज ने अपने विचारों को प्रचार-प्रसार हेतु अंग्रेजी के स्थान पर मराठी को अपना माध्यम बनाया।

(9) सर सैयद अहमद खाँ:

सैयद अहमद खाँ ने मुस्लिम सम्प्रदाय को 1857 के विद्रोह के बाद की निराशा और दयनीय स्थिति तथा उसके मध्यकालीन जड़ता से बाहर निकालकर आधुनिकता के मार्ग पर अग्रसर किया। राममोहन राय की तरह ही सैयद अहमद का भी विश्वास था कि अंग्रेजी शिक्षा तथा पश्चिमी ज्ञान के माध्यम से ही मुसलमानों के समाज को आधुनिक एवं उन्नत बनाया जा सकता है। इस उद्देश्य प्राप्ति के मार्ग में उन्होंने उन बाधक तत्वों को भी उखाड़ फेंकने की कोशिश की जो उस समय स्वयं मुसलमानों के धर्म और समाज में प्रचलित थे। उन्होंने पीरी मुरीदी की प्रथा को समाप्त करने का प्रयत्न किया। उन्होंने दास प्रथा को भी इस्लाम के विरुद्ध बतलाया। सैयद अहमद ने अपने विचारों का प्रचार एक पत्रिका 'तहजीब-उल-अखलाक' द्वारा किया। परन्तु उनका सबसे महत्वपूर्ण कार्य 'कुरान पर टीका' थी जिसमें उन्होंने परम्परागत टीकाकारों की आलोचना की और समकालीन वैज्ञानिक ज्ञान के प्रकाश में अपने विचार व्यक्त किये। उन्होंने 1875ई0 में अलीगढ़ में एक मुस्लिम ऐंग्लो ओरिएन्टन स्कूल आरम्भ किया जहाँ पाश्चात्य तथा विज्ञान और मुस्लिम धर्म दोनों ही पढ़ाये जाते थे। शीघ्र ही अलीगढ़ मुस्लिम सम्प्रदाय के धार्मिक तथा सांस्कृतिक पुनर्जागरण का केन्द्र बन गया।

1- ज्योतिबा फुले: दुर्गा प्रसाद शुक्ल, पृष्ठ 35

(10) दादा भाई नौरोजी:

1851 में कुछ अग्रेजी शिक्षा प्राप्त पारसियों ने 'रहनुमाए मजदापस्नान सभा' गठित की जिसका उद्देश्य पारसियों की सामाजिक अवस्था का पुनरुद्धार करना और पारसी धर्म की पुन· प्राचीन शुद्धता को प्राप्त करना था। इस आन्दोलन के नेता थे नारोजी फरदोनजी, दादा भाई नौरोजी तथा आर0के0 कामा। इस सभा के संदेश को पारसियों तक पहुँचाने के लिए एक पत्रिका 'रास्तगोफ्तार' (सत्यवादी) चलाई गयी। पारसी धर्म तथा कर्मकाण्ड को सुधारा गया तथा पारसी धर्म के नियम स्पष्ट किये गये। प्रयत्न यह किया गया कि पारसी स्त्रियों की दशा सुधारी जाए। परदा प्रथा समाप्त कर दी गयी, विवाह की आयु बढ़ा दी गयी तथा स्त्री शिक्षा पर बल दिया गया। धीरे-धीरे पारसी लोग भारतीय समाज के सबसे अधिक पाश्चात्य प्रभावित पक्ष बन गये।

उपरोक्तानुसार आन्दोलनों ने शिक्षित भारतीयों को एक आवश्यक आत्म-विश्वास प्रदान किया जो वे इस प्रकार के कारण खो बैठे थे कि पश्चिमी संस्कृति अधिक अच्छी है। इन सुधार आन्दोलनों ने भारतीयों को यह विश्वास दिलाया कि हमारा प्राचीन धर्म तथा सांस्कृतिक रिक्थ बहुत महान है। शिक्षित वर्ग को अत्यन्त आवश्यक एक नया व्यक्तित्व भी मिल गया। इन सुधार आन्दोलनों के चलते बौद्धिक जागरण का काल प्रारम्भ हुआ। बौद्धिक जागरण से अभिप्राय उस प्रयास से है जिसके द्वारा तत्कालीन समाज का आलोचनात्मक और रचनात्मक मूल्यांकन इस उद्देश्य से किया गया कि उसका परिवर्तन आधुनिक आधार पर पर किया जा सके। परिवर्तन के इस क्रम में भारतीयों को बहुत से पुराने, सड़े गले तथा झूठे रीति रिवाज को त्यागने में सहायता मिली जिससे वे वैज्ञानिक तथा तर्कसंगत विचारों के नवीन वातावरण में अपने आपको समंजन कर सके। सबसे बड़ी बात यह थी कि एक नवीन धर्म-निरपेक्ष तथा राष्ट्रवादी दृष्टिकोण विकसित हुआ।

(3) उन्नीसवीं शताब्दी में शिक्षा व्यवस्था एवं लोकजागरण में उसकी भूमिका:

अठारहवीं शताब्दी में भारत में हिन्दू और मुस्लिम शिक्षा केन्द्र लुप्तप्राय हो गये थे। देश में राजनैतिक उथल-पुथल के कारण शिक्षक और विद्यार्थी दोनों ही विद्या के उपार्जन में न लग सके। यद्यपि ईस्ट इण्डिया कम्पनी 1765 से राज्य करने लगी थी परन्तु उसने समकालीन इंग्लैण्ड की परम्परा के अनुसार विद्या का भार निजी हाथों में ही रहने दिया। कम्पनी की सरकार ने पूर्वी विद्या के प्रसार के लिए कुछ निरुत्साह से प्रयत्न किये। 1781 में वारेन हेस्टिंग्ज ने कलकत्ता मदरसा स्थापित किया जिसमें फारसी और अरबी का अध्ययन किया जाता था 1791 में बनारस के ब्रिटिश रैजिडेंट श्री डंकन के प्रयत्नों के फलस्वरूप बनारस में एक संस्कृत कालेज खोला गया जिसका उद्देश्य हिन्दुओं के धर्म, साहित्य और कानून का अध्ययन और प्रसार करना था। इन प्राच्य विद्याओं के प्रसार के लिए किये गये आरम्भिक प्रयत्न अधिक सफल नहीं हुए। 1800ई0 में लार्ड वेल्जली ने कम्पनी के असैनिक अधिकारियों की शिक्षा के लिए फोर्ट विलियम कालेज की स्थापना की। इस कालेज ने 'अंग्रेजी-हिन्दुस्तानी कोश' और 'हिन्दुस्तानी व्याकरण' तथा कुछ अन्य पुस्तकें प्रकाशित कीं। परन्तु यह कालेज 1802 ई0 में डाइरेक्टरों की आज्ञा पर बन्द कर दिया गया।

1813 के चार्टर एक्ट में एक लाख रूपया भारत में विद्या-प्रसार के लिए रखा गया और इस प्रकार इस क्षेत्र में एक तुच्छ सा प्रयत्न किया गया। यह धन साहित्य के पुनरुद्धार और उन्नति के लिए और अंग्रेजी प्रदेशों के वासियों में विज्ञान के आरम्भ और उन्नति के लिए निर्धारित किया गया था। कम्पनी को अपनी प्रशासनिक आवश्यकताओं के लिए ऐसे व्यक्तियों की आवश्यकता थी जो शास्त्रीय और स्थानीय भाषाओं के अच्छे ज्ञाता हों। न्याय विभाग में संस्कृत, फारसी और अरबी भाषा के ज्ञाताओं की आवश्यकता थी ताकि वे लोग अंग्रेज न्यायाधीशों के साथ परामर्शदाता के रूप में बैठ सकें और हिन्दू तथा मुस्लिम कानून की व्याख्या कर सकें। भूमिकर विभाग में देशी भाषाओं के ज्ञाताओं की आवश्यकता थी। परन्तु कम्पनी के ऊँचे पदों के कार्यकर्ताओं के लिए अंग्रेजी और देश भाषाओं का जानना अति आवश्यक था।

मैकाले सम्भवतः पुरुषों की एक ऐसी श्रेणी उत्पन्न करना चाहता था जो 'रक्त और रंग से भारतीय हो परन्तु प्रवृत्ति , विचार, नैतिक मापदण्ड और प्रज्ञा से अंग्रेज हो' जो कम्पनी के निम्न स्तरीय कार्यभार को संभाल सके।

लार्ड विलियम बैंटिंक की सरकार ने 7 मार्च 1835 के प्रस्ताव द्वारा मैकाले के दृष्टिकोण का समर्थन किया और निर्णय किया कि भविष्य में कम्पनी की सरकार यूरोपीय साहित्य को अंग्रेजी माध्यम द्वारा उन्नत करने का प्रयास करेगी और सभी धनराशियाँ इसी निमित्त दी जायेंगी।

इस प्रकार अंग्रेजी सरकार ने मैकाले पद्धति द्वारा भारत के उच्च वर्ग को अंग्रेजी माध्यम द्वारा शिक्षित करने का प्रयत्न किया मैकाले का उद्देश्य जन साधारण को शिक्षित करना नहीं था। वह स्पष्ट जानता था कि सीमित साधनों से समस्त जनता को शिक्षित करना असम्भव है। वह "विप्रवेशन सिद्धान्त" (INFILTRATION THEORY) में विश्वास करता था जिसके अनुसार अंग्रेजी पढ़े-लिखे लोग एक दुभाषिया श्रेणी के रूप में कार्य करेंगे और भारतीय भाषाओं और साहित्य को समृद्ध बनायेंगे और इस प्रकार पाश्चात्य विज्ञान तथा साहित्य का ज्ञान जनसाधरण तक पहुँच जाएगा।

1854 में शिक्षा पर सर चार्ल्स वुड का डिस्पैच प्रकाश में आया। इसे प्रायः "भारतीय शिक्षा का मेग्नाकार्टा" कहा जाता है। इसमें शिक्षा के माध्यम के विषय में यह निश्चित किया गया कि उच्च शिक्षा के लिए सबसे उत्तम माध्यम अंग्रेजी है। परन्तु इसमें देशी भाषाओं को भी प्रोत्साहित किया गया था क्योंकि ऐसा समझा गया कि यूरोपीय ज्ञान देशी भाषाओं के द्वारा ही जन साधारण तक पहुँच पाएगा। इसमें स्त्री-शिक्षा पर विशेष ध्यान देने की आवश्यकता पर बल दिया गया था। साथ ही इसमें लन्दन विश्वविद्यालय के आधार पर कलकत्ता, बम्बई और मद्रास में एक-एक विश्वविद्यालय स्थापित करने का भी प्रस्ताव था। तीनों विश्वविद्यालय 1857ई0 में अस्तित्व में आ गये।

उन्नीसवीं शताब्दी में भारत में शिक्षा के प्रसार में कुछ सामाजिक संगठनों तथा ईसाई मिशनरियों ने महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। आर्य समाज उनमें सर्वप्रमुख है। आर्य समाज ने शिक्षा तथा ज्ञान के प्रसार पर बहुत बल दिया। इसके अनुयायियों ने विद्या के प्रसार तथा अज्ञान के अंधकार को समाप्त करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। 1980 में आरम्भ की गयी 'दयानन्द ऐंग्लो-वैदिक संस्थायें' शीघ्र ही देश के कोने-कोने में फैल गयी। इसके अनुयायी रूढ़िवादी तथा प्रतिक्रियावादी नहीं थे। उन्होंने अंग्रेजी भाषा तथा पाश्चात्य ज्ञान को भी अपनाया अर्थात् इनमें प्राच्य तथा पाश्चात्य ज्ञान का सर्वोत्तम समन्वय मिलता है।

स्त्री-शिक्षा:

यद्यपि स्त्री-शिक्षा भारत के लिए कोई नई चीज नहीं थी, तथापि उन्नीसवीं शताब्दी में उसके विरुद्ध काफी पूर्वाग्रह व्याप्त था। कट्टरपंथी हिन्दू स्त्री-शिक्षा का विरोध करते थे। ईसाई धर्म प्रचारकों ने स्त्री-शिक्षा के लिए 1819ई0 में 'कलकत्ता तरुण स्त्री सभा' (CALCUTTA FEMALE JUVENILE SOCIETY) स्थापित की। उनका उद्देश्य चाहे जो भी रहा हो, वे पहले लोग थे जिन्होंने स्त्री-शिक्षा के लिए गम्भीर प्रयास किया। 1849 में कलकत्ता में बेथुन स्कूल की स्थापना स्त्री-शिक्षा के क्षेत्र में मील का पत्थर सिद्ध हुआ। वह स्त्री-शिक्षा के लिए उन्नीसवीं सदी के चौथे-पाँचवे दशकों में चलाये गये शक्तिशाली आन्दोलन का पहला परिणाम था। पण्डित ईश्वरचन्द्र विद्यासागर बंगाल में कम से कम 35 बालिका विद्यालयों की स्थापना से सम्बन्धित थे। बम्बई में एल्फिन्टस संस्थान के विद्यार्थी स्त्री-शिक्षा के क्षेत्र में अग्रदूत बन गए। 1854 ई0 में सर चार्ल्स वुड के पत्र में स्त्री शिक्षा की आवश्यकता पर बहुत बल दिया गया।

महाराष्ट्र में स्त्री-शिक्षा के लिए ज्योतिबा फुले ने पहल की। फुले और उनकी पत्नी ने 1851 में पुणे में एक बालिका विद्यालय खोला और तुरन्त ही अनेक अन्य विद्यालय खुल गये। आगे चलकर डी0के0 कर्वे ने स्त्री-शिक्षा के लिए उल्लेखनीय कार्य किया।

उन्नीसवीं शताब्दी में पाश्चात्य शिक्षा यद्यपि बहुत थोड़े लोगों तक ही सीमित थी, मुख्यत. समाज के उच्च वर्ग को ही इसे ग्रहण करने का अवसर मिला, तथापि इसने लोक जागरण के क्षेत्र में महत्वपूर्ण भमिका अदा की। पाश्चात्य शिक्षा ने भारतीय बुद्धिजीवियों के सामने सामाजिक और राजनीतिक स्वातंत्र्य के नये क्षितिज उद्घाटित किये । पाश्चात्य शिक्षित वर्ग तर्कवाद, विज्ञानवाद तथा मानववाद से बहुत प्रभावित हुआ। शिक्षित भारतीय दूसरे देशों के प्रगतिशील विचारों और उनकी वैज्ञानिक उपलब्धियों से परिचित हुए और उन्होंने नये ज्ञान की कसौटी पर अपनी परम्पराओं, धर्म, दर्शन तथा रीति-रिवाजों को कसना प्रारम्भ किया जिससे अनेक धार्मिक एवं सामाजिक परम्पराओं और मान्यताओं की चूलें हिल गयीं और सामाजिक-धार्मिक एवं राजनीतिक जागरण का व्यापक आन्दोलन प्रारम्भ हुआ।

उन्नीसवीं शताब्दी के लोकजागरण का स्वरूप:

इस प्रकार हम देखते हैं कि उन्नीसवीं शताब्दी में भौतिक परिस्थितियों के बदलाव, यथा- नई भूराजस्व व्यवस्था, हस्तशिल्प उद्योग के ह्रास, रेलों के विकास आदि के कारण ग्रामों की स्वायत्ता जाती रही और गाँव राष्ट्र की इकाई बन गये जिससे सही अर्थो में भारत एक राष्ट्र के रूप में संगठित हुआ। इससे राष्ट्रीय चेतना के प्रसार में काफी सहायता मिली। पाश्चात्य शिक्षा, धार्मिक- सामाजिक सुधार आन्दोलनों के प्रभाव के कारण एक नया दृष्टिकोण विकसित हुआ जिसमें तर्क, बुद्धिवाद एवं ज्ञान की प्रमुखता थी। अब मनुष्य का भौतिक जीवन अधिक महत्वपूर्ण हो गया और लोगों का ध्यान धर्म और मरणोपरांत भविष्य के जीवन से हटने लगा और वे इस संसार के मनुष्य और उसकी आवश्यकताओं को जुटाने लग गये। यही कारण है कि भक्तिकाल में लोकजागरण जहाँ आध्यात्मिकता के साथ जुड़ा हुआ था, आधुनिक काल में उससे आध्यात्मिकता पूरी तरह गायब हो गयी। अब ईश्वर के बदले समाज और राष्ट्र प्रमुख हो गया और साहित्य तथा कला का केन्द्र बिन्दु ईश्वर नहीं अपितु मनुष्य हो गया। प्रो० राम स्वरूप चतुर्वेदी के शब्दों में।

"आधुनिक काल में आकर मनुष्य सारे चिन्तन का केन्द्र बनता है और ईश्वर की धारणा व्यक्तिगत आस्था के रूप में स्वीकृत होती है, साहित्य या कि कलाओं में उसका चित्रण प्रासंगिक नहीं रह जाता।"[1]

19वीं शदी में नयी यूरोपीय वैज्ञानिक संस्कृति और पुरानी भारतीय धार्मिक संस्कृति की टकराहट के फलस्वरूप लोकजागरण की शुरुआत हुई। यह लोकजागरण दो जातीय संस्कृतियों की टकराहट से उत्पन्न रचनात्मक उर्जा है। उपनिवेशवादी अंग्रेज भारतीय संस्कृति को तुच्छ समझते थे। उनकी दृष्टि में भारतीय निर्मम बर्बर थे। ईसाई मिशनरियाँ हिन्दुओं-मुसलमानों के धर्म पर आक्रमण कर रहे थे। उनका उत्तर देना

1- हिन्दी साहित्य और संवेदना का विकास: प्रो० रामस्वरूप चतुर्वेदी, पृष्ठ 93

भी अनिवार्य था। प्रारम्भ में कुछ उदार अंग्रेज विद्वानों ने भारत के अतीत का गौरव गान किया। विलियम्स जोंस, मैक्समूलर जॉन मार्शल जैसे विदेशी विद्वानों के प्राचीन भारतीय इतिहास में शोध करने के फलस्वरूप भारत की समृद्ध सांस्कृतिक परम्परा का ज्ञान होने लगा। इस क्षेत्र में विशेष रूप से कनिंघम जैसे पुरातत्ववेदों की खुदाइयों ने भारत की महानता तथा गौरव का वह चित्र प्रस्तुत किया जो रोम तथा यूनान की प्राचीन सभ्यताओं से किसी पक्ष में कम गौरवशाली नहीं था। इन यूरोपीय विद्वानों ने वेदों तथा उपनिषदों की साहित्यिक श्रेष्ठता तथा मानव मन के सुन्दर विश्लेषण के लिए उनका गुणगान किया। उन्हें तत्कालीन भारतीय साहित्य एवं संस्कृति की उत्कृष्टता के समक्ष अपने साहित्य एवं संस्कृति की तुच्छता स्पष्ट होने लगी। जेम्स जीन के शब्दों में-

"जब हमारे पूर्वज पशुओं का शिकार और परस्पर एक दूसरे की हत्या करते रहते थे तब भारत में परिपक्व दर्शन ग्रन्थ रचे जा चुके थे, कला, कविता, साहित्य- सभी दिशाओं में वह इंग्लैण्ड से आगे था।"[1]

ऐतिहासिक क्षेत्रों में खोज के परिणाम स्वरूप भारतीयों को अपने समृद्ध एवं गौरवशाली अतीत का बोध हुआ। लेखकों ने अब वर्तमान में पराजित एवं विभक्त जाति को अतीत की पृष्ठभूमि पर एकता बद्ध करने का प्रयास किया। इससे प्रखर सांस्कृतिक चेतना का प्रसार हुआ। अतीत के पराक्रम ने सम्पूर्ण राष्ट्र को निश्चय ही विदेशी सत्ता के विरुद्ध राष्ट्रीय , सांस्कृतिक एवं जातीय भावना से प्रेरित किया। इस प्रकार सांस्कृतिक जागरण और राष्ट्रीय जागरण आपस में घुल-मिल गये। डा0 बच्चन के शब्दों में-

---

1- हिन्दी साहित्य का वृहत् इतिहास (अष्टम भाग): संपा0 विनय मोहन शर्मा, पृष्ठ 27

"तीसरी दुनिया के पिछडे हुए देशों ने अपने सांस्कृतिक जागरण को राष्ट्रीय जागरण में बदल दिया। 19वीं शताब्दी के इस नवजागरण में राष्ट्रीयता के तत्व अनुस्यूत थे।"[1]

उन्नीसवीं शताब्दी के लोकजागरण का बहुत कुछ दायित्व दो संस्कृतियों की टकराहट में अपनी अस्मिता की पहचान में था। अपनी अस्मिता के पहचान की सबसे उपयुक्त एवं सशक्त माध्यम है संस्कृति। अंग्रेज भारतीय संस्कृति को हेठी की दृष्टि से देखते थे। साथ ही ईसाई मिशन हिन्दुओं- मुसलमानों के धर्म पर आक्रमण कर रहे थे। इसका उत्तर भारतीयों ने अपने अतीत की समृद्ध एवं गौरवशाली संस्कृति के माध्यम से दिया। डॉ0 बच्चन के अनुसार-

"भारतीय नवजागरण से सम्बद्ध महापुरुषों ने राजा राममोहन राय से महात्मा गाँधी तक अपनी अस्मिता की प्रतिष्ठा तथा जनता की जागरूकता के लिए भारतीय संस्कृतिका आधार ग्रहण किया। राजाराममोहन राय ने उपनिषदों का सहारा लिया तो विवेकानन्द ने अद्वैत वेदान्त का। स्वामी दयानन्द सरस्वती ने वेद का। इनके आधार पर उन्होंने धार्मिक भेद-भाव, ऊँच-नीच, छुआछूत, बाह्याडम्बर, जाति-पाँति का जमकर विरोध किया। स्पष्ट है कि उनके विचारों को नई दिशा देने का कार्य अंग्रेजी उपनिवेशवाद तथा तत्कालीन समाज की ज्वलंत समस्याओं ने किया।"[2]

19वीं शताब्दी का लोकजागरण पश्चिमी नवजागरण या पुनर्जागरण से भिन्न है। पश्चिमी नवजागरण अपने को मध्यकालीन चेतना से, चर्च के चंगुल से मुक्त करता है। भारतीय नवजागरण अतीत से जुड़ा हुआ है, उससे बहुत कुछ ग्रहण करके आगे बढ़ता है। इसका निदर्शन भारतेन्दु युग की आधुनिकता में भी होता है जिसमें परम्पराबद्धता एवं नवीनता के तत्व एक साथ पिरोये हुए हैं-

---

1- हिन्दी साहित्य का दूसरा इतिहास: डॉ0 बच्चन सिंह, पृष्ठ 301

2- वही पृ0 301-302

"भारतेन्दु युग की आधुनिकता का अपना विशिष्ट संदर्भ है। यह आधुनिकता समसामयिक आधुनिकता से भिन्न एक विशिष्ट प्रकार के संक्रमण कालीन पुनरुत्थान से सम्बद्ध है जिसके साथ परम्पराबद्धता , नवीनता के प्रति आग्रह, सांस्कृतिक बोध एवं आत्मनिष्ठा, नवीन जीवन पद्धति आदि के मूल्य अवतरित हुए।"[1]

सामान्यतः यह माना जाता है कि हिन्दी साहित्य में आधुनिक चेतना का आविर्भाव भारतेन्दु युग में हुआ। किन्तु डा0 राम विलास शर्मा भारतेन्दु युग के लोकजागरण को 'आधुनिकता के दूसरे चरण' से सम्बद्ध मानते हुए 'आधुनिकता के प्रथम चरण' के रूप में भक्ति आन्दोलन की व्याख्या करते हैं। इस प्रथम चरण के जन-जागरण को वे 'लोकजागरण' की संज्ञा देते हैं । भक्तिकाल का लोकजागरण भारतेन्दु युग के नवजागरण से इस मायने में भिन्न है कि पहला जहाँ सामंत-विरोधी जातीय जागरण है, वहीं दूसरा सामंतवाद के साथ-साथ साम्राज्यवाद का भी विरोध करता है क्योंकि तब तक भारत में अंग्रेजी राज्य कायम हो चुका था। डा0 राम विलास शर्मा के शब्दों में-

"भारतेन्दु युग उत्तर भारत में जनजागरण का पहला या प्रारम्भिक दौर नहीं है, वह जनजागरण की पुरानी परम्परा का एक खास दौर है । जनजागरण की शुरुआत तब होती है जब यहाँ बोलचाल की भाषाओं में साहित्य रचा जाने लगता है, जब यहाँ के विभिन्न प्रदेशों में आधुनिक जातियों का गठन होता है । यह सामंत विरोधी जनजागरण है। भारत में अंग्रेजी राज कायम करने के सिलसिले में प्लासी की लड़ाई से 1857 के स्वाधीनता संग्राम तक जो युद्ध हुए, वे जनजागरण के दूसरे दौर के अन्तर्गत हैं। यह दौर पहले से भिन्न है, मुख्य लड़ाई विदेशी शत्रु से है। यह साम्राज्य विरोधी जनजागरण है। भारतेन्दु युग इस जनजागरण से जुड़ा हुआ है।"[2]

दोनों चरणों के इस जनजागरण का विशेष सम्बन्ध चूँकि हिन्दी जाति, हिन्दी भाषा और हिन्दी-प्रदेश से है, इसलिए यह 'हिन्दी नवजागरण ' है।

2- भारतेन्दु हरिश्चन्द्र और हिन्दी नवजागरण की समस्यायें: डा0 राम विलास शर्मा, पृष्ठ 13

उन्नीसवीं शताब्दी में भारतीय नवजागरण की दो धारायें मिलती हैं। एक धारा पाश्चात्य सभ्यता एवं संस्कृति से पूर्णतः प्रभावित हैं। उसका झुकाव साम्राज्यवाद की ओर है। इस नवजागरण के कर्ता-धर्ता समाज के विशिष्ट वर्ग के लोग थे और इसका प्रभाव मुख्यत. शहरी मध्यवर्ग तक ही सीमित था। ये भारतीय समाज एवं धर्म में सुधार के सभी आधार साम्राज्यवादी परम्पराओं में तलाशत थे। जबकि नवजागरण की दूसरी धारा भारतीय परम्परा की साम्राज्यवादी परम्परओं स टकराहट की है। यह धारा साम्राज्यवादी आधुनिकीकरण के प्रति सम्मोहन का विरोध करती है। किन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि यह धारा अतीतवादी या आधुनिकता विरोधी है। इनका दृढ़ विश्वास है कि पाश्चात्य सभ्यता एवं संस्कृति के अंधानुकरण से देश का पश्चिमीकरण (WESTERNIZATIO होगा, आधुनिकीकरण नहीं। इनके अनुसार आधुनिकता के मुख्य आधार मानव विवेक, ज्ञान, वैज्ञानिक दृष्टिकोण एवं मानवतावाद किसी समाज या देश को तभी आधुनिक बना सकते हैं जब इसका उस समाज के सन्दर्भ में स्वाभाविक रूप से विकास और विवेकपूर्ण उपयोग हो। भारत में आधुनिकता अंग्रेजी नहीं बल्कि संस्कृत या हिन्दी एवं अन्य देशी भाषाओं के माध्यम से आ सकती है। नवजागरण की इस दूसरी धारा के सामाजिक आधार में साधारण मध्यवर्ग किसान एवं मजदूर वर्ग के लोग शामिल थे तथा इसका प्रभाव भी सुदूर गावों तक व्याप्त था। इसका मुख्य लक्ष्य भारतीय जनता का समग्र जागरण था। अतः इसे लोकजागरण कहना समीचीन होगा। भारतेन्दु जी ने नवजागरण की इस धारा का प्रवर्तन किया। प्रख्यात आलोचक डा० शम्भुनाथ ने नवजागरण के इन दोनों धाराओं का अन्तर स्पष्ट करते हुए लिखा है-

"भारतीय नवजागरण की एक धारा अगर भारतीय परम्परा पर साम्राज्यवादी परम्पराओं के प्रभुत्व की है तो दूसरी धारा भारतीय परम्परा की साम्राज्यवादी परम्पराओं से टकराहट की है । एक को हम एकांगी नवजागरण तथा दूसरे को समग्र नवजागरण कहेंगे। यह ध्यान में रखना चाहिए कि नवजागरण की दूसरी धारा अनिवार्यतः अतीतवादी या आधुनिकता विरोधी नहीं थे, सच्ची आधुनिकताओं से इसने अपनाया तथा रूढ़ अतीत को ~~केंचुल को~~ केंचुल की तरह उतार फेंका।"[1]

1- भारतेन्दु और भारतीय नवजागरण: संपा० शंभुनाथ, अशोक जोशी, पृष्ठ 2।

प्राय सभी मान्य इतिहासकारों ने भारत में राष्ट्रीय नवजागरण का सम्बन्ध सामान्यत· राममोहन राय से जोडा है लेकिन डा0 राम विलास शर्मा का कहना है कि हो सकता है कि बंगाल के लिए यह सही हो किन्तु आवश्यक नहीं कि हर प्रान्त में वैसी ही प्रक्रिया घटित हुई हो। उन्होंने भारतेन्दुयुगीन लोकजागरण या नवजागरण को 1857 की क्रान्ति का प्रतिफल माना है। उनके अनुसार हिन्दी प्रदेश में नवजागरण 1857 के स्वाधीनता संग्राम से शुरू होता है। डा0 शर्मा के अनुसार गदर के ईश्तिहारों और घोषणा-पत्रों में देश के औद्योगीकरण और स्वदेशी आन्दोलन के सूत्र विद्यमान हैं। इन्हीं सूत्रों का विकास आगे हमें भारतेन्दु युग के लेखकों की रचनाओं में मिलता है। भारतेन्दु युग के लगभग सभी प्रमुख लेखक अंग्रेजी राज के शोषण का पर्दाफाश करते हुए स्वदेशी, स्वाधीनता और राष्ट्रीय एकता के आधार पर जातीय नवजागरण का उद्घोष करते दिखाई देते हैं। डा0 शर्मा के अनुसार हिन्दी नवजागरण बंगाल या गुजरात के नवजागरण से भिन्न है। हिन्दी नवजागरण की अपनी कुछ खास विशेषतायें हैं। जो भारतेन्दु युग में और बाद में द्विवेदी युग में भी मिलती हैं। हिन्दी नवजागरण की इन मौलिक विशेषताओं के सन्दर्भ में डा0 रामविलास शर्मा लिखते हैं-

"भारतेन्दु हरिश्चन्द्र से लेकर महाबीर प्रसाद द्विवेदी तक हिन्दी नवजागरण के सूत्रधार पुराने चर्खे - कर्घे वाले भारत का स्वप्न नहीं देखते। वे देश में आधुनिक उद्योग धन्धों के विकास के पक्षपाती हैं। गाँधीवादी विचार धारा से हिन्दी नवजागरण का यह भेद उल्लेखनीय है।"[1]

देश के उद्योगीकरण के लिए वैज्ञानिक शिक्षा भी जरूरी होती है। इसीलिए हिन्दी नवजागरण के सूत्रधार वैज्ञानिक दृष्टि और वैज्ञानिक प्रशिक्षण पर जोर देकर रूढ़िवादिता का खंडन करते हैं। डा0 शर्मा के अनुसार हिन्दी नवजागरण अतीत के

1- महावीर प्रसाद द्विवेदी और हिन्दी नवजागरण: डा0 रामविलास शर्मा, पृष्ठ 179

प्रति भावुकता, पुनरुत्थानवाद और रहस्यवाद की दृष्टि नहीं अपनाता। हिन्दी नवजागरण की चेतना रहस्यवाद विरोधी और देश के उद्योगीकरण की पक्षपाती है।

डा0 रामविलास शर्मा नें भारतेन्दुयुगीन लोकजागरण को 1857 के क्रान्ति का प्रतिफल माना है। वे उन साम्राज्यवादी इतिहासकारों का खण्डन करते हैं जो अंग्रेजी राज की भूमिका बहुत बढ़ा-चढ़ाकर आंकते हैं और भारत में ज्ञान-विज्ञान की उन्नति और आधुनिकता की नई चेतना के प्रसार के लिए अंग्रेजी राज की प्रशंसा करते हैं। डा0 शर्मा बताते हैं कि ऐतिहासिक तथ्यों की अवहेलना करके भाँति-भाँति के विद्वानों नें बार-बार यह प्रतिपादन किया है कि इस देश का नवजागरण अंग्रेजी राज का परिणाम था और गदर में सिपाही और सामंत अपने निजी स्वार्थों के लिए लड़े थे। 1857 के गदर के अनेक इश्तहारों को उद्धृत करते हुए वे बताते हैं कि इसमें अंग्रेजी राज के दौरान भारत के सर्वतोन्मुखी विनाश का उल्लेख करने के बाद यह कहा गया है कि स्वदेशी हुकूमत कायम होने पर हिन्दुस्तान में अंग्रेजों का जाल फरेब खत्म कर दिया जायेगा और हर चीज का व्यापार करने का अधिकार इस देश के सौदागरों को होगा। अपना माल ले जाने के लिए भाप से चलने वाली गाड़ियाँ सरकार उन्हें सुलभ करेगी। जिन सौदागरों के पास पूँजी न होगी उन्हें सरकारी खजाने से सहायता दी जायेगी। राजाओं और रईसों का सारा काम देशी कारीगरों को दिया जाएगा। इससे वे खुशहाल होंगे। इस तरह गदर के इश्तिहारों और घोषणापत्रों में देश के उद्योगीकरण ओर स्वदेशी आन्दोलन के बारे में मूल सूत्र मौजूद हैं। इन्हीं सूत्रों का विकास आगे हमें भारतेन्दु युग के लेखकों में मिलता है। गदर के कुछ वर्षो के बाद ही भारतेन्दु ने 23 मार्च 1974 की 'कविवचन सुधा' में स्वदेशी के व्यवहार का प्रतिज्ञा-पत्र प्रकाशित कर उस पर बड़ी संख्या में लोगों से हस्ताक्षर करवाये थे। भारतेन्दु युग के अन्य प्रमुख लेखक भी अंग्रेजी राज में शोषण का पर्दाफाश करते हुए स्वदेशी, स्वाधीनता और राष्ट्रीय एकता के आधार पर जातीय नवजागरण का उद्घोष करते दिखाई देते हैं। फिर भी विडम्बना ही है कि कई विद्वानों को गदर की इस चेतना के साथ भारतेन्दु युग के साहित्य का सम्बन्ध नजर नहीं आता। डा0 राम विलास शर्मा के अनुसार-

" जो नवजागरण 1857 के स्वाधीनता संग्राम से आरम्भ हुआ, वह भारतेन्दु युग में और भी व्यापक बना, उसकी साम्राज्य-विरोधी , सामंत-विरोधी प्रवृत्तियाँ द्विवेदी-युग में और पुष्ट हुई।"[1]

गदर के मात्र एक दशक बाद ही भारतेन्दु ने 'कवि वचन सुधा' निकाली और उसके प्रकाशन के दूसरे वर्ष ही उसमें 'लेवी-प्राण लेवी' नामक अपना विख्यात ब्रिटिश-विरोधी निबन्ध लिखा। भारतेन्दु और उनके सहयोगियों के साहित्य में गदर के इश्तिहारों की विषय-वस्तु ही नहीं अपितु शब्दावली भी मामूली हेर-फेर के साथ मिल जाती है। दिखावटी तौर पर दो-चार वाक्य अंग्रेजी हुकूमत की प्रशंसा में लिखकर अंग्रेजों के शोषण, लूट, भारतीयों की तवाही और दमन का नंगा चित्र प्रस्तुत कर देने की उनकी कला लाजबाब है। डा0 राम विलास शर्मा क अनुसार-

"भारतेन्दु युग का साहित्य व्यापक स्तर पर गदर से प्रभावित है, इसका पहला प्रमाण यह है कि इस साहित्य में किसानों को लक्ष्य करक, उन्हें संगठित और आन्दोलित करने की दृष्टि से जितना गद्य-पद्य लिखा गया है, उतना दूसरी भारतीय भाषाओं में नहीं लिखा गया।"[2]

किन्तु डा0 नामवर सिंह इस मत से सहमत नहीं हैं। उनके अनुसार 19वीं शताब्दी का हिन्दी नवजागरण 1857 के विद्रोह की अपेक्षा बंगला नवजागरण से अधिक प्रभावित है। उनके अनुसार भारतेन्दु तथा भारतेन्दु युग के लेखक अंग्रेजों के विरुद्ध राजनीतिक-सांस्कृतिक संघर्ष में बंगाल के नवजागरण से प्रेरणा प्राप्त कर रहे थे-

---

1- महावीर प्रसाद द्विवेदी और हिन्दी नवजागरण: डा0 रामविलास शर्मा, पृष्ठ, 46

2- महावीर प्रसाद द्विवेदी और हिन्दी नवजागरण: डा0 रामविलास शर्मा, पृष्ठ 12

"हिन्दी नवजागरण की विशिष्टता बतलाने के लिए सन सत्तावन की राजक्रान्ति को उसको बीज मानना कठिन है। भारतेन्दु तथा उनके मण्डल के लेखक सन् सत्तावन की राजक्रान्ति की अपेक्षा बंगाल के उस नवजागरण से प्रेरणा प्राप्त कर रहे थे जो उससे पहले ही शुरू हो चुका था। कारण यह कि भारतेन्दु और उनके मण्डल के लेखकों की दृष्टि में अंग्रेजी राज की चुनौती राजनीतिक से अधिक सांस्कृतिक थी और इस संस्कृतिक संघर्ष में बंगाल नवजागरण से अस्त्र-शस्त्र मिलने की सम्भावना अधिक थी।"[1]

अपने मन्तव्य को और स्पष्ट करने हेतु डा0 नामवर सिंह 1857 के विद्रोह और हिन्दी नवजागरण के स्वरूप का विश्लेषण करते हैं। उनके अनुसार 1857 का विद्रोह नितान्त साम्प्रदायिक था तथा हिन्दुओं और मुलसमानों ने कंधे से कंधा मिलाकर इस विद्रोह में हिस्सा लिया था। इसी प्रकार गरीब किसानों, मजदूरों तथा सिपाहियों ने जाति-धर्म से ऊपर उठकर एक भारतीय के रूप में अंग्रेजी राज को चुनौती दी थी किन्तु 1857 की विद्रोह की यह प्रसंशनीय धार्मिक एकता और उसका असाम्प्रदायिक स्वरूप हिन्दी नवजागरण में दिवास्वप्न बन गयी तथा वह स्पष्टतः हिन्दू-मुस्लिम दो अलग-अलग धाराओं में विभक्त हो गया। अत 1857 के विद्रोह को हिन्दी नवजागरण का गोमुख नहीं माना जा सकता-

"सन् सत्तावन की राजक्रान्ति को हिन्दी नवजागरण का गोमुख मानने में एक कठिनाई यह भी है कि राजक्रान्ति के नितान्त असाम्प्रदायिक पक्ष का सन्देश हिन्दी नवजागरण तक पूरा-पूरा नहीं पहुँच सका। हिन्दी प्रदेश के नवजागरण के सम्मुख यह बहुत गम्भीर प्रश्न है कि यहाँ का नवजागरण हिन्दू और मुस्लिम दो धाराओं में क्यों विभक्त हो गया? जिस प्रदेश में हिन्दू-मुस्लिम दोनों धर्मो के लोग एक साथ मिलकर सन् सत्तावन में अंग्रेजी राज के खिलाफ लड़े वहाँ दस वर्ष बाद ही जो नवजागरण शुरू हुआ वह हिन्दू और मुस्लिम दो अलग-अलग खानों में कैसे

1- समालोचना डॉ0 नामवर सिंह वर्ष 35, अंक 79,अक्टू0-दिस0 1985-पृ06

बॅट गया। यह प्रश्न इसलिए भी गम्भीर है कि बंगाल और महाराष्ट्र का नवजागरण इस प्रकार विभक्त नहीं हुआ।"[1]

अत: उपरोक्त मतों के आलोक में हम कह सकते हैं कि डा0 रामविलास शर्मा की इस स्थापना से शायद ही किसी का मतभेद हो कि भारतेन्दु युगीन हिन्दी नवजागरण या लोकजागरण गदर से पूर्णतः प्रभावित है। किन्तु यह लोकजागरण मात्र गदर का ही परिणाम है, बंगला नवजागरण , अंग्रेजी शासन में हुए भौतिक एवं आर्थिक परिवर्तनों, पाश्चात्य शिक्षा, संस्कृति एवं आचार-विचार से यह बिल्कुल ही प्रभावित नहीं है, ऐसा नहीं माना जा सकता है। भारतेन्दु युगीन लोकजागरण उन्नीसवीं शताब्दी के सामाजिक-धार्मिक सुधार आन्दोलनों से व्यापक रूप से प्रभावित है। अंग्रेजों के सम्पर्क, पाश्चात्य शिक्षा तथा इन सुधार आन्दोलनों से समाज में जो सुधारवादी भावना की लहर प्रवाहित हुई थी, उससे भारतेन्दु युगीन रचनाकारों का हृदयकूल भी अछूता नहीं रहा। परिणामत: उनके साहित्य में विधवा-विवाह, बाल-विवाह, मद्यपान, शिक्षा और बेकारी, पुलिस और अन्य कर्मचारियों की लूट-खसोट समुद्र-यात्रा निषेध, जाति-भेद, छुआछूत आदि से सम्बन्धित अनेकानेक तद्युगीन ज्वलंत सामाजिक समस्याओं का निरूपण हुआ है। स्वयं भारतेन्दु ने तो इन विषयों पर जमकर लिखा ही, अन्य लेखकों ने भी उनका अनुसरण किया।

उन्नीसवीं शताब्दी के हिन्दी नवजागरण या लोकजागरण में राष्ट्रभक्ति के साथ-साथ राजभक्ति के तत्व भी अनुस्पूत हैं। किन्तु इससे यह निष्कर्ष निकालना अनुचित होगा कि तत्कालीन साहित्यकार अंग्रेजी-राज के समर्थक थे। वस्तुतः तत्कालीन परिस्थितियों में साहित्यकार अंग्रेजी राज की खुलकर आलोचना नहीं कर सकते थे। यदि वे ऐसा प्रयास करते तो कठोर प्रेस एक्ट के तहत उनका प्रेस जब्त कर लिया

1- आलोचना त्रैमासिक: डॉ0 नामवर सिंह, वर्ष 35, अंक 79, अक्टूबर-दिसम्बर 1986, पृष्ठ 6

जाता और उन्हें तरह-तरह से प्रताड़ित किया जाता। परिणामतः साहित्यकार ऊपर से ब्रिटिश शासन और महारानी विक्टोरिया की प्रशंसा करते थे और इस प्रशंसा की आड़ में वे अंग्रेजों के शोषण, अत्याचार , मक्कारी तथा धूर्तता की कलई खोलते थे तथा उनकी पुलिस, कचहरी, कानून, शिक्षा-व्यवस्था आदि की धज्जियाँ उड़ाते थे। प्रख्यात आलोचक डा0 शंभुनाथ भारतेन्दु के सन्दर्भ में इसे स्पष्ट करते हुए लिखते हैं-

"भारतेन्दु ऐसे अवसर खोजते रहते थे, जब महारानी विक्टोरिया की उदारता और क्षमता की प्रसंशा की आड में साथी भारतवासियों की वास्तविक हालत और ताकत का बखान करें। इनके वर्तमान दु:खों, तथा ऐतिहासिक गोरव-चिन्हों को भाव विह्वल होकर गिनाने का कोई अवसर वह खोते नहीं थे।"[1]

उन्नीसवीं शताब्दी के लोकजागरण की एक अन्य प्रमुख विशेषता है 'स्वत्व की खोज' अपनी अस्मिता की पहचान'। इस युग के साहित्यकार आधुनिकीकरण के समर्थक थे, पर 'स्वत्व' की कीमत पर नहीं। वे उन सुधारवादियों की तरह नहीं थे जिन्हें समाज सुधार की चकाचौंध में अपने 'स्वत्व' और देश के औपनिवेशिक आर्थिक शोषण की जरा भी फिक्र नहीं थी। वे पश्चिमी सभ्यता एवं संस्कृति के अंधानुकरण के कट्टर विरोधी थे। उधर अंग्रेजी सरकार भारतीय अस्मिता को समाप्त करने के लिए भारतीय इतिहास को तोड़-मरोड़ कर पेश करने की कोशिश कर रही थी। अनेक अंग्रेज इतिहासकारों ने भारतीय सभ्यता एवं संस्कृति को अत्यन्त तुच्छ एवं दीन-हीन सिद्ध करने का प्रयास किया। उन्होंने एक ऐसे 'पूर्व' का मिथक गढ़ा जो अनन्त काल तक गुलाम रहने के लिए अभिशप्त था। कुछ उदार अंग्रेज इतिहासकारों एवं भारतीय विद्वानों ने इसका उत्तर दिया। इनके शोधों, उत्खननों आदि के फलस्वरूप विश्व को भारत की समृद्ध सांस्कृतिक परम्परा का बोध हुआ जो विश्व की किसी भी सभ्यता

1- भारतेन्दु और भारतीय नवजागरण: संपा0 शंभुनाथ, अशोक जोशी, पृष्ठ 23

एवं संस्कृति से उत्कृष्ट थी। भारतीय साहित्यकारों एवं चिन्तकों ने वर्तमान में पराजित एवं विभक्त जाति को अतीत की पृष्ठभूमि पर एकताबद्ध कर राष्ट्रीय चेतना के प्रसार में महत्वपूर्ण योगदान किया। इसके महत्व की चर्चा करते हुए डा0 नॉमवर सिंह लिखते हैं -

"नवजागरण की एक बहुत बडी देन सम्भवतः वह इतिहास-दृष्टि है जिससे अपन अतीत को शत्रु से मुक्त करके उसके विरुद्ध वर्तमान में इस्तमाल करने की कला आती है और भविष्य के लिए स्वप्न दृष्टि भी मिलती है।"[1]

यहाँ यह स्पष्ट कर देना भी समीचीन होगा कि 19वीं शताब्दी के लोकजागरण से सम्बद्ध साहित्यकार अतीत की विद्या-बुद्धि संस्कृति पर मुग्ध होते हैं परन्तु इस हद तक अभिभूत नहीं होते कि अतीत की ओर लौटने की या अतीत को वर्तमान में लाने की बात करें। वे शेष दुनिया की प्रगति के साथ भारत को भी कदम मिलाकर चलते देखना चाहते हैं। विद्या और शिल्प की नयी उन्नति में विज्ञान के नये आलोक में, भारत को नये-भारत को- आँखें खोलना देखना चाहते हैं, प्राचीन गरिमा की खोल में आत्मछलावे की नींद सोते भारत को नहीं।

1- आलोचना त्रैमासिकः संपा0 डा0 नामवर सिंह, वर्ष 35 अंक 79, अक्टूबर-दिसम्बर 1986, पृष्ठ-5

लोकजागरण का हिन्दी साहित्य पर प्रभाव:

उन्नीसवीं शताब्दी के लोक जागरण का हिन्दी साहित्य पर व्यापक प्रभाव पड़ा। उसने मानवेतर एवं सामंती अथवा अभिजात वर्गीय शक्तियों से अपना नाता तोड़कर सामान्य इंसान से अपने रिश्ते को जोड़ा। भारतेन्दु युग के ठीक पूर्व का रीतिकालीन साहित्य लोकजीवन से पूर्णत. कटा हुआ था। रीतिकवियों ने अपनी काव्य प्रतिभा केवल श्रृंगार वर्णन और राजाओं की स्तुति में ही खर्च की। भारतेन्दु तथा उनके सहयोगियों की वास्तविक महत्ता इसी बात में निहित है कि उन्होंने साहित्य को उक्त संकीर्ण सीमा के घेरे से बाहर निकाला तथा उसे सामान्य मनुष्य के जीवन तथा समस्याओं से जोड़ा। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के शब्दों में:-

"इससे भी बडा काम उन्होंने यह किया कि साहित्य को नवीन मार्ग दिखाया और उसे वे शिक्षित जनता के साहचर्य में ले आए। नई दिशा के प्रभाव से लोगों की विचारधारा बदल चली थी। उनके मन में देशहित, समाजहित आदि की नई उमंगें हो रही थीं। काल की गति के साथ-साथ उनके भाव और विचार तो बहुत आगे बढ़ गये थे, पर साहित्य पीछे ही पड़ा था। भक्ति, श्रृंगार आदि की पुराने ढंग की कवितायें ही होती चली आ रही थीं पर देश काल के अनुकूल साहित्य निर्माण का कोई विस्तृत प्रयत्न तब तक नहीं हुआ था । बंग देश में नये ढंग के नाटकों और उपन्यासों का सूत्रपात हो चुका था जिनमें देश और समाज की नई रुचि और भावना का प्रतिबिम्ब आने लगा था। पर हिन्दी साहित्य अपने पुराने रास्ते पर ही पड़ा था। भारतेन्दु ने उस साहित्य को दूसरी ओर मोड़कर जीवन के साथ फिर से लगा दिया। इस प्रकार हमारे जीवन और साहित्य के बीच जो विच्छेद पड़ रहा था उसे उन्होंने दूर किया। हमारे साहित्य को नये-नये विषयों की ओर प्रवृत्त करने वाले हरिश्चन्द्र ही हुए।"[1]

1- हिन्दी साहित्य का इतिहास: आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, पृष्ठ 246

भारतेन्दु के नेतृत्व में अनेक साहित्यकार आगे आये और उन्होंने जनसाधारण की समस्याओं से साहित्य को जोड़ा। उस समय लोकजागरण के साथ अनेक सामाजिक, सांस्कृतिक और राजनीतिक समस्यायें खड़ी हो गयी थी जिनकी अभिव्यक्ति ब्रजभाषा और केवल काव्य-रूपों में ही सम्भव नहीं था परिणामत: ब्रजभाषा के स्थान पर खडी बोली प्रधान साहित्यिक भाषा बनी तथा हिन्दी गद्य की अनेक विधाओं का आविर्भाव हुआ। इस प्रक्रिया में पत्र-पत्रिकाओं ने ऐतिहासिक भूमिका अदा की।

भारतेन्दु युग में लोकजागरण का सबसे अधिक प्रभाव गद्य साहित्य पर पड़ा। पद्य साहित्य अपेक्षाकृत बाद में प्रभावित हुआ। काव्य के क्षेत्र में इस युग के कवि को जहाँ नवीन का मोह है, वहाँ उसमें प्राचीन का आग्रह भी है। भारतेन्दु तथा उनके सहयोगियों ने प्रकृति-चित्रण, श्रृंगार तथा लीला वर्णन भी बड़ी अनुभूति और विदग्धता से किये हैं और साथ-साथ राजनीतिक और सामाजिक विषयों का समावेश भी उन्होंने पहली बार उस युग के साहित्य में किया। गद्य विधाओं में नाटक और निबंध को इस युग में विशेष लोकप्रियता प्राप्त हुई क्योंकि ये लोकजागरण के अत्यन्त सशक्त माध्यम हैं। इनमें देश-प्रेम , सामाजिक दुरवस्था और कुप्रथाओं का खंडन, विधवाओं की दयनीय दशा, बाल-विवाह-विरोध, धार्मिक रूढ़ियों और अन्धविश्वासों का खंडन, स्त्री-शिक्षा और स्वतंत्रता आदि सामाजिक विषयों का भी प्रचुर मात्रा में समावेश है। 'भारत-दुर्दशा' नामक नाटक में 'वर्णाश्रमधर्म' की संकीर्णता का विरोध करते हुए भारतेन्दु ने लिखा है-

"बहुत हमने फैलाये धर्म, बढ़ाया छुआछूत का कर्म।"[1]

'प्रेमधन' ने सामाजिक रूढ़ियों और प्रचलित अंधविश्वासों के प्रति क्षोभ की तीखी भावना व्यक्त की- -प्रचलित द्राय अंध-परिपाटी पर क्यों चलते जाते।' प्रतापनारायण मिश्र ने बाल विधवाओं की अत्यंत दयनीय दशा का चित्रण करते हुए उनके प्रति सहानुभूति प्रकट करते हुए लिखा है- 'कौन करे जो नहीं कसकत सुन विपति बाल-विधवन की।'

1- भारतेन्दु समग्र: संपा0 हेमन्त शर्मा, पृष्ठ 462

भारतेन्दु युगीन लेखक इस तथ्य से भिज्ञ थे कि राजनैतिक गुलामी की जंजीर में बंधे रहकर सामाजिक-आर्थिक स्वतंत्रता और मुक्ति का सारा नारा निरर्थक था। यही कारण है कि भारतेन्दु युग के प्रायः सभी रचनाकारों ने देशभक्ति की उदात्त चेतना भी विद्यमान थी। भारतेन्दु के बारे में कहा गया आचार्य शुक्ल का यह कथन कि- "नवीन धारा के बीच भारतेन्दु की वाणी का सबसे ऊँचा स्वर देश-भक्ति का था"[1] उस युग के अन्य रचनाकारों पर भी समान रूप से लागू होता है। भारतेन्दु के 'नील देवी', 'भारत-दुर्दशा' , 'अंधेर नगरी' आदि नाटकों में तो उनकी इस भावना की बड़ी सशक्त एवं मार्मिक अभिव्यक्ति हुई है। अंग्रेजों के आर्थिक शोषण की नीति पर कठोरतम प्रहार करते हुए उन्होंने लिखा है-

"भीतर-भीतर सब रस चूसै। हंसि-हंसि के तन मन धन मूसै।।
जाहिर बातन में अति ते। क्यों सखि सज्जन नहिं अंग्रेज।।'[2]

भारतेन्दु ने वस्तुतः ब्रिटिश शासन के हर पक्ष के क्रूर-कठोर चेहरे पर से मुखौटा उतार कर उनके नंगे बदसूरत रूप को जनता के सामने प्रत्यक्ष किया। इस युग के अन्य लेखकों- प्रतापनारायण मिश्र, बद्री नारायण चौधरी, 'प्रेमघन', पं0 बालकृष्ण भट्ट, श्री निवास दास, राधाचरण गोस्वामी आदि ने भी भारतेन्दु का अनुकरण किया। दिन-दिन बढ़ती मंहगाई और टैक्सों की असीम वृद्धि ने जनता के जीवन को दूभर बना दिया था। प्रतापनारायण मिश्र ने इस ओर ध्यान आकृष्ट करते हुए लिखा है-

"मंहगी और टिकस के मारे हमहिं छुधा-पीड़ित तन-छाम।
साग-पात लौं मिलै न जिय भरि लेवों वृथा दूध को नाम।।"

1- हिन्दी साहित्य का इतिहासः आचार्य राम चन्द्र शुक्ल, पृष्ठ 564

2- भारतेन्दु समग्रः संपा0 हेमन्त शर्मा, पृष्ठ 256

इस प्रकार हम देखते हैं कि भारतेन्दु युग हिन्दी साहित्य के उस मोड़ का पहला चरण है जब उसने मानवेतर एवं सामंती अथवा अभिजातवर्गीय शक्तियों से अपना नाता तोड़कर धरती के सामान्य इंसान से अपने रिश्ते को जोड़ा। भारतेन्दु युगीन साहित्य की सर्वाधिक प्रमुख प्रवृत्ति उसकी लोकोन्मुखी चेतना है जिसने मनुष्य को ही अपनी आस्था का आधार बनाया। यदा-कदा वह मध्यकालीन प्रवृत्तियों की ओर भी आकर्षित जरूर हुआ, लेकिन उसका मुख्य स्वर मानव का अवमूल्यन करने वाले तत्वों के तिरस्कार से ही सम्बन्धित रहा। भारतेन्दु युग के ठीक पूर्व का रीतिकालीन साहित्य लोकजीवन से पूर्णतः कटा हुआ था। रीतिकालीन कवियों ने अपनी काव्य प्रतिभा केवल श्रृंगार वर्णन और राजाओं की स्तुति में ही खर्च की। भारतेन्दु तथा उनके सहयोगियों की वास्तविक महत्ता इसी बात में निहित है कि उन्होंने साहित्य को उक्त संकीर्ण सीमा के घेरे से बाहर निकाला तथा उसे जिन्दगी के चहल-पहल से भरे चौराहे पर लाकर खड़ा कर दिया। यह सब उन्नीसवीं शताब्दी के लोक जागरण के प्रभाव के कारण ही सम्भव हुआ।

भारतेन्दु युगीन लोकजागरण हिन्दी साहित्य के इतिहास में भक्ति आन्दोलन के बाद सबसे बड़ा आन्दोलन है। इन दोनों ने तत्कालीन साहित्य, संस्कृति तथा जन जीवन को अत्यधिक प्रभावित किया। 19वीं शताब्दी के लोकजागरण के परिणाम स्वरूप हिन्दी प्रदेश में आधुनिक जीवन चेतना का उन्मेष हुआ। मध्यवर्गीय सामाजिक परिवेश में साहित्य-रचना का जो रूप उभरा उसमें कहीं-कहीं सामन्तीय संस्कारों का अवशेष लक्षित होता है, किन्तु वह टूटने के क्रम में है। रचनागत प्रतिपाद्य की दृष्टि से यह बहुत बड़ा परिवर्तन था। यह भी उल्लेखनीय है कि ब्रिटिश शासन व्यवस्था की दृढ़ता के बावजूद उसके प्रति विरोध का भाव प्रत्येक साहित्यकार के मन में विद्यमान है। देश और समाज के हित की भावना से सभी भावित हैं। साहित्य-सर्जन की दृष्टि से हिन्दी गद्य कीप्रायः सभी विधाओं का सूत्रपात इसी युग में हुआ, विशेषतः निबंध और नाटक- इन दो विधाओं में लेखकों को अभूतपूर्व सफलता प्राप्त हुई। सब मिलाकर इस युग का साहित्य व्यापक जागरण का संदेश लेकर आया और भाषा के स्वरूप विकास में भी अभूतपूर्व प्रगति हुई।

अध्याय-तृतीय

उन्नीसवीं शताब्दी के निबंध साहित्य में लोकजागरण का सामाजिक सन्दर्भ

उन्नीसवीं शताब्दी के निबंध साहित्य में लोकजागरण का

सामाजिक सन्दर्भ:

19वीं शती का भारतीय समाज एक ऐसा सन्धिकाल था जहाँ से भारतीय जीवन और समाज में नये परिवर्तनों की परम्परा आरम्भ हो जाती है। 19वीं शदी का पूर्वार्द्ध ईस्ट-इण्डिया कम्पनी के विस्तार और प्रसार का काल था जिस अवधि में भारत की प्राय. समस्त देशी रियासतें समाप्त हो गयीं और कम्पनी को इस देश की सार्वभौम सत्ता के रूप में मान्यता प्राप्त हो गयी। मराठा संघ का वर्चस्व, सिन्ध और पंजाब के स्वतंत्र राज्य सभी कुछ कम्पनी के राज्य में समा गये। इनके साथ ही परम्परा से चलती आयी सामाजिक और प्रशासन की परम्पराओं पर भी प्रभाव पड़ा। अंग्रेजों ने यहाँ अपने प्रशासन के अनुकूल अनेक पुरानी रीतियों और प्रणालियों में परिवर्तन किये जिनके परिणाम कुछ तो अच्छे रहे, लेकिन कुछ ने भारतीय जनता में असन्तोष भी उत्पन्न कर दिया जिसकी चरम अभिव्यक्ति 1857 ई0 के विद्रोह में हुई। इस विद्रोह के बाद कम्पनी का शासन समाप्त कर दिया गया और उसके स्थान पर इंग्लैण्ड के संसद का शासन भारत में स्थापित हुआ। 19वीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध सामाजिक और धार्मिक क्षेत्रों में परिवर्तन का प्रतीक था। इस सदी के आरम्भ से यूरोपीय संस्कृति, शिक्षा और प्रशासन से देश में जिस परिवर्तन की प्रक्रिया आरम्भ हुई उसकी परिणति हमें शती के उत्तरार्द्ध में देखने को मिलती है । भारत की आधुनिक राष्ट्रीयता के अंकुर भी इसी काल में फूटे, साहित्य , धर्म, समाज आदि सभी अंगों पर इस प्रक्रिया का प्रभाव पड़ा। भारत जो उन्नीसवीं शती के आरम्भ में मध्य युगीन तत्वों से समन्वित था वह शती के उत्तरार्द्ध में नयी चेतना से प्रभावित होकर आधुनिक भारत के निर्माण के लिए अग्रसर होने लगा।

सामाजिक दृष्टि से परिवर्तनों की प्रक्रिया का केन्द्र बंगाल रहा। यह स्वाभाविक ही है क्योंकि बंगाल कम्पनी शासन का केन्द्र था तथा यहीं से प्रशासन के सारे कार्य संचालित किये जाते थे। दूसरे, बंगाल में अंग्रेजी शासन की स्थापना बड़ी आसानी से

हो सकी थी जिससे समाज नये परिवर्तनों को ग्रहण करने में विशेष उत्सुक भी था। अंग्रेजी शिक्षा और संस्कृति को बंगाल में ही पनपने का अधिक अवसर मिलना इस तथ्य की और भी पुष्टि कर देता है। बंगाल ने ही शेष भारत को आधुनिकता के परिवेश में बदलने में अगुवाई की।

बंगाल में अंग्रेजी प्रशासन की स्थापना प्लासी के युद्ध के पश्चात सन् 1857 से मानी जा सकती है। राजनीतिक परिवर्तन तो शीघ्र हो जाता है लेकिन सामाजिक और धार्मिक परिवर्तनों में अधिक समय लगता है। यही बात हमें बंगाल से सांस्कृतिक परिवर्तनो में भी दिखलायी पड़ता है। वस्तुतः प्रशासन का ढांचा बंगाल में वारेन हेस्टिंग्ज के काल से बदलता प्रतीत होता है। क्रमश· पुराने प्रशासन के ढाँचे में परिवर्तन कर दिया गया, कलकत्ता कौन्सिल तथा न्याय के लिए सुप्रीम कोर्ट की स्थापना की गयी। वास्तव में प्रशासनिक ढाँचे के परिवर्तनों ने साधारण जन को वैधानिक परिवर्तनों के प्रति जागृत कर दिया और लोग अनुभव करने लगे कि मुस्लिम राज्य के स्थान पर अंग्रेज राज्य की स्थापना हो चुकी है।

19वीं शती का भारतीय समाज बहुत पिछड़ा हुआ था। समाज के वर्गो में अलगाव की प्रवृत्ति थी। हिन्दू और मुस्लिम समाज में तो यह प्रवृत्ति और भी स्पष्ट थी। इस संकीर्णता से समाज के प्रभावशाली व्यक्ति भी अछूते नहीं रहे। जान पड़ता है कि सदियों तक साथ-साथ रहने के बावजूद हिन्दू और मुसलमान समाज में एकता के तत्व कम,विरोध के अधिक रहे। आगे चलकर अंग्रेजी नीति के कारण इन विरोधी तत्वों को पनपने का अवसर मिला और देश में साम्प्रदायिक गतिविधियाँ बढ़ीं। इस प्रवृत्ति का एक मात्र कारण रहा एकता और राष्ट्रीयता की भावना का अभाव।

हिन्दू और मुसलमानों में आपसी भेदभाव तो था ही साथ ही ये समाज अनेक आंतरिक अन्तर्विरोधों और संकीर्णताओं से भी ग्रस्त थे। हिन्दू समाज में जातियों और उपजातियों के कारण विखराव दिखाई पड़ता था। संकीर्णता एवं जाति अभिजात्य के

के कारण अन्य जातियों में सद्भाव का अभाव था। साथ ही सती प्रथा, बाल-विवाह, विधवा विवाह निषेध, पर्दाप्रथा, शिशु-हत्या आदि के कारण हिन्दू समाज गहरे अंधकार में डूबा था। मुस्लिम समाज की सामाजिक स्थिति भी ऐसी ही थी। सारा देश इसी प्रकार के संकीर्ण और अलगाव के कुहासे में ढंका था। भारतीय-समाज के प्रतिष्ठित वर्ग भी विलासिता तथा कुरीतियों में डूबा था। सर यदुनाथ सरकार ने इस समय का सामाजिक विवरण देते हुए लिखा है कि-

"पारिवारिक जीवन की पवित्रता विलास और नैतिक दोषों से नष्ट हो गयी थी, अभिजात्य के संरक्षण में कामुक- साहित्य का सृजन हो रहा था तथा धर्म में गर्हित तत्व आ गये थे।"[1]

ऐसी स्थिति में अंग्रेजी शासन ने अपने पैर पसारने आरम्भ किये। और उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य तक अंग्रेजी कम्पनी का शासन भारत में पूरी तरह स्थापित हो गया था। इस प्रकार भारत यूरोप के सन्निकट आया। इस समय यूरोप में राष्ट्रीय तथा व्यक्तिवाद की विचार-धाराओं का प्रसार हो रहा था। विवेक को विश्वास से बड़ा स्वीकार किया गया, वैयक्तिक विचार को मान्यता प्राप्त हुई तथा सामाजिक न्याय और राजनीतिक अधिकारों की प्रतिष्ठा हुई। इन विचार धाराओं का प्रभाव भारत के बुद्धिजीवियों पर पड़ा जिन्होंने अंग्रेजी भाषा के माध्यम से यूरोपीय साहित्य पढ़ा। स्वभावतः अपने देश में भी एक नयी चेतना का जन्म हुआ जिसने यहाँ के स्थिर और मंद जीवन में गति उत्पन्न कर दी। धार्मिक विचारों तथा सामाजिक मान्यताओं के प्रति लोगों ने विवेकपूर्ण दृष्टिकोण अपनाना प्रारम्भ किया और सदियों से चलते आये संस्कारगत विचारों में परिवर्तन की प्रक्रिया आरम्भ हुई। वस्तुतः पाश्चात्य दृष्टिकोण के कारण मध्ययुगीन अन्धविश्वास, मान्यताओं के प्रति विवेचन और तार्किक दृष्टि अपनाने का सिलसिला आरम्भ हुआ। दूसरे शब्दों में यहाँ भी मानसिक विद्रोह के अंकुर फूटने लगे और लोग

1- हिस्ट्री आफ बंगाल सूबाः सर यदुनाथ सरकार, पृष्ठ 497

नये विचार प्रकट करने लगे। परिणामतः उन्नीसवीं शताब्दी में धार्मिक, सामाजिक तथा राजनीतिक सभी क्षेत्रों में व्यापक सुधारों की मांग बलवती होती गयी और कालान्तर में इस मांग ने आन्दोलन का स्वरूप ग्रहण कर लिया। राजा राममोहन राय, स्वामी दयानन्द सरस्वती, स्वामी विवेकानन्द, महादेव गोविन्द रानाडे, एनी बेसेंट तथा ज्योतिबा फुले आदि इन आन्दोलनों के प्रणेता बने। इन्होंने भारतीय जनता को अपने सामाजिक रूढ़ियों, परम्पराओं एवं विश्वासों को परखने हेतु वैज्ञानिक एवं तार्किक दृष्टि प्रदान किया।

इस नये दृष्टि के विकास में अंग्रेजी शिक्षा ने महत्वपूर्ण भूमिका अदा की। अंग्रेजी शिक्षा के कुछ अवांछनीय प्रभाव भी पड़े किन्तु वे स्थायी नहीं रह सके। भारतीयों पर अंग्रेजी शिक्षा तथा यूरोपीय ज्ञान का अनुकूल प्रभाव पड़ा। समाज में विवेक और तर्क को स्थान मिला। परम्पराओं को चुनौती दी जाने लगी। राजा राममोहन राय ने धार्मिक क्षेत्र में नये विचार रखे तथा ब्रह्म समाज की स्थापना हुई। आर्य समाज, रामकृष्ण मिशन, थियोसोफिकल सोसाइटी आदि संगठनों ने सामाजिक - धार्मिक कुरीतियों की खुलकर निन्दा की। यातायात के साधनों के विकास, विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं के प्रकाशन आदि ने सामाजिक धार्मिक सुधारों को गतिशीलता प्रदान की।

साहित्य अपने युग का दर्पण होता है। युग की सामाजिक धार्मिक, राजनीतिक गतिविधियों से साहित्य प्रभावित होता है तथा इन गतिविधियों का अंकन भी साहित्य में होता है। यही कारण है कि उन्नीसवीं शताब्दी के सामाजिक-धार्मिक गतिविधियों से साहित्य अछूता नहीं है। हिन्दी-साहित्य ने सामाजिक-धार्मिक सुधारों के लिए जमीन तैयार करने और इन सुधार कार्यक्रमों को व्यापकता प्रदान करने में महत्वपूर्ण भूमिका अदा की है। राष्ट्रीय जागरण के साथ-साथ सामाजिक - धार्मिक जागरण भी इस युग के साहित्यकारों का लक्ष्य रहा है।

इसी कारण डा0 रामविलास शर्मा ने भारतेन्दु युगीन साहित्य को जनवादी साहित्य कहा है। उनके मतानुसार - "भारतेन्दु युग का साहित्य जनवादी इस अर्थ में है कि वह भारतीय समाज के पुराने ढाँचे में सन्तुष्ट न होकर उसमें सुधार भी चाहता है। वह केवल राजनैतिक स्वाधीनता का साहित्य न होकर मनुष्य की एकता, समानता और भाई-चारे का भी साहित्य है। भारतेन्दु स्वदेशी आन्दोलन के ही अग्रदूत न थे, वे समाज-सुधारकों में भी प्रमुख थे।"[1]

सामाजिक चेतना भारतेन्दु युगीन लेखकों की विशिष्ट विशेषता थी। वे जानते थे कि स्वस्थ और सुसंगठित समाज से ही देश की उन्नति सम्भव है। उन्होंने भारतीय समाज में व्याप्त अन्धविश्वासों, जाति-पाँति, पाखण्ड आदि कुरीतियों एवं रूढ़ियों का तीव्र विरोध किया। बाल-विवाह, अनमेल-विवाह, वृद्ध-विवाह, परदा-प्रथा, दहेज-प्रथा, आदि के भी वे अत्यन्त विरोधी थी। विदेश-यात्रा, विधवा विवाह, स्त्री-शिक्षा, अन्तर्जातीय विवाह के वे प्रबल पक्षधर थे। उन्नीसवीं शताब्दी के निबन्धकार प्रायः पत्रकार थे। इसलिए सामयिक विषयों पर उनका विशेष ध्यान रहता था। यही कारण है कि लगभग सभी निबन्धकारों ने उपरोक्त विषयों पर जमकर लिखा है। अत निम्नलिखित शीर्षकों के अन्तर्गत उनके निबन्धों का विवेचन करना समीचीन होगा।

सामाजिक-धार्मिक रूढ़ियाँ एवं अंधविश्वास:

किसी धर्मगत विश्वासों और रीति-रिवाजों का अंधानुकरण ही रूढ़िपालन होता है। रूढ़िप्रिय लोग परम्परागत व्यवस्था में किसी परिवर्तन को स्वीकार नहीं करते। जिससे समाज में जड़ता उत्पन्न हो जाती है। इस प्रकार देखा जाए तो धर्मान्धता ही कट्टर रूढ़िबद्धता है। भारतेन्दु युगीन निबन्धकारों ने पुराने अप्रासंगिक रीति-रिवाजों, कट्टरपंथियों और रूढियों का पालन करने वालों का डटकर विरोध किया। ये निबंधकार तर्क और विवेक की कसौटी पर रूढ़ियों , रीति-रिवाजों एवं परम्पराओं को परखते थे तथा जिन्हें वे राष्ट्र एवं समाज के उत्थान एवं चरित्र के विकास में बाधक समझते

1- भारतेन्दु युग डा0 रामविलास शर्मा (तीसरे संस्करण की भूमिका), पृष्ठ

थे, उन्हें त्यागने या उनमें सशोधन करने का सुझाव जनता को देते थे। भारतेन्दु जी नवजागरण के अग्रदूत थे तथा समग्र जागरण के हिमायती थे। वे धर्म को सामाजिक उन्नति का मूल ठहराते थे लेकिन धार्मिक आडम्बरों से उन्हें सख्त घृणा थी। इन आडम्बरों को वे सामाजिक-पिछडेपन एवं धार्मिक विद्वेष का प्रमुख कारण मानते थे। हिन्दू धर्म के आडम्बर प्रधान आचरण की धज्जी उडाते हुए वे कहते हैं- "धर्म हमारा ऐसा निर्बल और पतला हो गया है कि केवल स्पर्श से वा एक चुल्लू पानी से मर जाता है कच्चे गले, या सडे सूत या चिउँटी की [illegible] हमारे धर्म की हो गयी है।" भारतेन्दु का यह व्यंग्य सीधे चुभने वाला है। भारतेन्दु सीधे चेतावनी के स्वर में कहते हैं "जिस भाव से हिन्दू मत अब चलता है उस भाव से आगे नहीं चलेगा।"[1]

पं0 बालकृष्ण भट्ट ने भी रूढ़ियों तथा अन्धविश्वासों की आलोचना की है। भट्ट जी बड़े उग्र और स्वतंत्र विचारों के व्यक्ति थे। उन्होंने उन हिन्दुओं की कटु आलोचना की जो आडम्बरपूर्ण जीवन व्यतीत करते थे। एक स्थान पर वे लिखते हैं- "बाहय आडम्बरों के फेर में पडकर हम लोग धर्म और समाज के सम्बन्ध में जो खर्च करते हैं उसका चौथाई भी और देशवाले नहीं करते। पर यहाँ के ये खर्च बहुत कुछ ऊट पटांग होने से किसी तरह का उपकार या देश की भलाई में उसे गिन नहीं सकते। ... ... हमारी हिन्दू कौम की ऐसी ही ऐसी दो चार बातों ने इस समय के धूर्त, लालची, स्वार्थ परायण ब्रह्मणों को अपना मतलब साधने का मौका दे दिया।"[2]

भट्ट जी भारत की दुर्दशा का एक प्रमुख कारण लोगों द्वारा चली आ रही परम्पराओं, रूढ़ियों एवं मान्यताओं के अंधानुकरण को मानते हैं। उनका कहना है कि समय की आवश्यकताओं के अनुरूप अनुभव एवं बुद्धि के द्वारा इनकी परख कर इनमें

1- भारतेन्दु समग्र पृष्ठ 976 (निबंध- वैष्णवता और भारतवर्ष)

2- हिन्दी प्रदीप, जून 1875, पृष्ठ 9

परिवर्तन विकास के लिए आवश्यक हो जाता है। किन्तु अज्ञानता के कारण भारत की अधिकांश जनता परिवर्तन की कट्टर विरोधी है और यही परिवर्तन-विमुखता उसकी दुर्दशा का प्रमुख कारण है-

"हमारे अभाग से भारत में परिवर्तन को यहाँ तक लोग बुरा समझते हैं कि दिन-दिन अत्यन्त गिरी दशा में आकर भी परिवर्तन की ओर नहीं मन दिया चाहते- यह हमारी परिवर्तन-विमुखता ही का कारण है कि हजार वर्ष से विदेशियों का पछाघात सहकर भी कभी एक क्षण भर के लिए जीवन-नाड़ी में रक्त-संचालन न हुआ। जैसी इल्म की तरक्की उन्नीसवीं शताब्दी में हमारे देश में हुई है, वैसी किसी दूसरे देश में होती, तो वह देश भूमण्डल का शिरोमणि हो जाता। परिवर्तन-विमुखता के कारण इस समय की विद्यावृद्धि दाल में नमक की भाँति मालूम होती है और जो धीमा क्रम यहाँ के लोगों में देखा जाता है उससे यही निष्कर्ष निकलता है कि इस जीर्ण भारत के भाग्योदय के लिए अभी कई शताब्दी चाहिए।"[1]

प्रताप नारायण मिश्र ने भी रूढ़िवादिता और अंधविश्वासों का विरोध किया। उन्नीसवीं शताब्दी में धार्मिक रूढ़िवादिता अपने चरमोत्कर्ष पर थी। हिन्दू धर्म के ठेकेदारों ने आचार-व्यवहार के नियमों को बहुत ही कठोर बना दिया था। यदि कोई हिन्दू मौलवी तथा पादरियों के मायाजाल में फँस जाय तो उसको पुन: हिन्दू समाज द्वारा स्वीकार किया जाना लगभग असम्भव था। इस पर व्यंग्य करते हुए मिश्र जी "फूटी सहे,आँजी न सहे" नामक निबन्ध में कहते हैं - "क्यों भाई शास्त्र की रीति से प्रायश्चित करा मिला न लेव। वाह जी! हमारा धर्म जाता रहेगा।' 'हूँ हूँ, झूठ बोलने में धर्म नहीं जाता, यवनी गमन में धर्म नहीं जाता, गोरक्त मिश्रित विलायती शक्कर खाने में धर्म नहीं जाता, एक स्वदेशी भाई को कुमार्ग से स्वधर्म में लाने से धर्म भाग जायगा?"[2]

1- भट्ट निबंधावली (पहला भाग): संपा0 धनंजय भट्ट 'सरल' पृष्ट 12

2- प्रतापनारायण - ग्रन्थावली: संपा0 विजय शंकर मल्ल, पृष्ठ 3।

19वीं शताब्दी में चेचक एक भयावह संक्रामक रोग था जिसकी रोकथाम के लिए सरकार ने टीका लगाने का कार्यक्रम शुरू किया। किन्तु अंधविश्वास के कारण भारतीय जनता इस टीकाकरण कार्यक्रम से दूर भागती थी तथा इस कार्यक्रम के कर्मचारियों से असहयोग करती थी। उसे तो अब भी झाड़-फूंक पर ही विश्वास था। अपनी प्रगतिशीलता का परिचय देते हुए मिश्र जी लोगों का आह्वान करते हैं कि "लोग अपने बच्चों का जान बचाने के लिए टीका अवश्य लगवायें और इस कार्यक्रम को प्रारम्भ करने के लिए सरकार को धन्यवाद देंगे कि नगर-नगर गाँव-गाँव में सहस्रों रूपये खर्च करके टीका लगाने का प्रचार करती है।"[1]

अंधविश्वास और अविवेक के साथ जो कुछ किया जाता है वह सामाजिक जीवन के लिए अत्यन्त विनाशक होता है। इससे व्यक्ति और समाज की अपूर्णनीय क्षति होती है। पं0 राधाचरण गोस्वामी ने अंधविश्वासों और रूढ़ियों पर उसी प्रकार प्रहार किया जिस प्रकार भक्ति काल में कबीर ने आडम्बरों और पाखण्डों पर अपनी उग्र वाणी से प्रहार किया था। लेकिन जहाँ कबीर की वाणी में तीखापन तथा उग्रता थी वहीं गोस्वामी जी का प्रहार मृदुल हास से युक्त कल्पना से सर्व रंजित है। उस समय हिन्दुओं में वैतरणी पार करने के लिए गऊ की पूँछ पकड़ने पर स्वर्ग जाने का अंधविश्वास का गोस्वामी जी ने बड़ी रोचकता के साथ उपहास किया है। अपने 'यमपुर की यात्रा' नामक निबन्ध में वह वैतरिणी पार करने के प्रसंग को लेकर लिखते हैं- "प्राचीन हिन्दू गोदान करता है ब्राह्मण को,आज हिन्दू कुत्ता प्रदान करता है अंग्रेज साहब की मेम को और उसकी सहायता से बैतरणी तर जाता है।"[2]

व्यंग्यपूर्ण शैली में निबंध लेखक कहता है कि उसे वैतरिणी पार करते हुए रोक लिया जाता है, क्योंकि उसने गोदान नहीं किया बल्कि गोदान लिया है।

1- प्रतापनारायण- ग्रंथावली: संपा0 विजयशंकर मल्ल, पृष्ठ 37

2- भारतेन्दु युग, डा0 रामविलास शर्मा, पृष्ठ 101

रोके जाने पर वह प्रधान से बहस करने लगता है - "साहब प्रथम प्रश्न तो सुन लीजिए, गोदान का कारण क्या? यदि गो की पूँछ पकडकर पार उतर जात हैं तो क्या बेल से नहीं उतर सकते? जब बैल से उतर सकते हैं तो कुत्ते ने क्या चोरी की?"[1] इसमें हिन्दुओं में परलोक-कामना सम्बन्धी अंधविश्वास और समाज में व्याप्त भ्रष्टाचार पर अच्छा व्यंग्य है।

पं० बालकृष्ण भट्ट के मतानुसार तीर्थ-यात्रा करने का जो पवित्र उद्देश्य होता है वह आज नष्ट हो गया है। धार्मिक तीर्थ स्थान आज अराजकता के केन्द्र बन गये हैं जहाँ पण्डे जनता का तरह-तरह से शोषण करते हैं। गया वे पिण्डदान करने को विशेष धार्मिक महत्व है जहाँ हजारों - लाखों श्रृद्धालु हिन्दू प्रतिवर्ष पिण्डदान करने जाते हैं । वहाँ पण्डे श्रद्धालुओं का शोषण करते हैं, यही दशा कमोवेश हर तीर्थ स्थान की है। इस कुरीति पर मार्मिक वेदना व्यक्त करते हुए भट्ट जी लिखते हैं- "...... गया वाले यहाँ मनमाने यात्रियों को दुहते हैं जिनका विश्वास है कि गया वाले जब तक पीठ न ठोंकेंगे गया सुफल न होगी, पितर न तरेंगे किन्तु यह सर्वथा कच्ची समझ है।"[2]

समाज और सामाजिक जीवन का कोई ऐसा अंग नहीं है, जो भट्ट जी की द्रृष्टि से अछूता रहा हो। उन्होंने सभी विषयों पर अपनी लेखनी चलाई। उन्हें अत्यन्त खेद होता है- "बाजार की मिठाई दाँत तले दबा लिया धर्म धूल में मिल गया। अन्य जाति के लोटे में पानी पी लिया भ्रष्ट हो गये।" भट्ट जी का मानना है कि धर्म में विकार आने से समाज भी दूषित हो जाता है, मनुष्य के चरित्र का पतन हो जाता है। मनुष्य धर्म के वास्तविक स्वरूप को भूलकर धार्मिक पाखण्डों और वाह्याडम्बरों

1- हिन्दी निबन्धकार: डा0 जयनाथ नलिन, पृष्ठ 94-95

2- भट्ट-निबंधमाला, द्वितीय भाग, संपा0 धनंजय भट्ट, पृष्ठ 144

में उलझ जाता है। और कुछ पाखण्डी साधु भोले भाले लोगों को धर्म सम्बन्धी अनेक प्रकार के भय दिखाकर उनसे धन लूटने लगते हैं। धनी लोग अपने यश के लिए धन का अपव्यय करते हैं। धन के अपव्यय के सम्बन्ध में भट्ट जी ने "हमारे धर्म सम्बन्धी खर्च 'नामक निबंध में विस्तार से लिखा है। उदाहरण दृष्टव्य है-

"यदि हमारे धनी जन अपने बहुत से धर्म सम्बन्धी अपव्यय छोड़कर या उस अपनी बेवकूफी को कुछ कम कर उस धन को साधारण शिक्षा में लगा दें तो कितना उपकार हो और धर्म तो इतना हो कि सात स्वर्ग और अपवर्ग की प्राप्ति भी इस धर्म के आगे झख मारता रहे।"[1]

इसी प्रकार प्रेमधन जी की भी कामना है कि समाज से कुरीतियाँ विलुप्त हो जायें और सदाचरण की पुनः स्थापना हो। वे गया, प्रयाग और मथुरा के पण्डों के कपटी व्यवहार का उल्लेख करते हुए कहते हैं कि ये पण्डे अज्ञानी, नीच तथा दुराचारी हैं, ये लोग लाखों रूपये प्रतिवर्ष यजमानों से दान-दक्षिणा के फलस्वरूप पाते हैं किन्तु उन श्रद्धालु यजमानों को भी धोखा देने से ये नहीं चूकते। समाज के कल्याण हेतु प्रेमधन जी इन पण्डों से अपने व्यवहार में परिवर्तन लाने का अनुरोध करते हैं- "सुतराम इनसे धर्म्म, जाति वा देश का क्या उपकार है, वा होगा? यदि ये लोग सामान्य हमारे अन्य धर्म्म कार्य्यों में उद्योग न करें तो भी कुछ विशेष चिन्ता नहीं, परन्तु अपनी दशा तो सुधारें, अपने जीविकास्थल वा निज धर्म्म स्थान की तो रक्षा करें अपने आपको उस पद के योग्य तो रक्खें और कुछ नहीं तो अपने कृत्य से समग्र जाति को कलंकित करने के कार्य तो न करें।"[2]

1- भट्ट निबंधमाला, द्वितीय भाग, संपा0 धनंजय भट्ट, पृष्ठ 10

2- प्रेमधन सर्वस्व (द्वितीय भाग): संपा0 प्रभाकेश्वर प्रसाद उपाध्याय, पृष्ठ 223

बाल-विवाह:

उन्नीसवीं शताब्दी में बाल-विवाह का प्रचलन आम था। इस कुरीति से अनेक सामाजिक समस्यायें उत्पन्न हो रही थीं जिससे देश का विकास बाधित होता था। उस समय पाँच-सात वर्ष तक की कन्याओं का विवाह कर दिया जाता था जिससे उनका शारीरिक एवं मानसिक विकास अधूरा रह जाता था। युवावस्था तक पहुँचते-पहुँचते स्त्री की सम्पूर्ण शक्ति भी समाप्त होने लगती थी। अल्पायु में प्रसव के कारण अनेक स्त्रियों की दर्दनाक मृत्यु हो जाती थी। अधिक आयु के वर के साथ विवाह होने के कारण विधवाओं की संख्या भी बढ़ने लगी थी और अनेक विधवायें सती होने को विवश हो रही थीं। इस युग के सभी निबंधकारों ने बाल-विवाह का तीव्र विरोध किया है। भारतेन्दु जी "भारतवर्ष की उन्नति कैसे हो सकती है?" नामक निबंध में कहते हैं-

"लड़कों को छोटेपन ही में व्याह करके उनका बल, वीर्य, आयुष्य मत घटाइए। आप उनके माँ बाप हैं या उनके शत्रु हैं। वीर्य उनके शरीर में पुष्ट होने दीजिए, विद्या कुछ पढ़ लेने दीजिए, नोन, तेल , लकड़ी की फिक्र करने की बुद्धि सीख लेने दीजिए, तब उनका पैर काठ में डालिए। कुलीन प्रथा, बहुविवाह को दूर कीजिए।"[1]

इसी प्रकार प्रतापनारायण मिश्र जी ने भी बाल-विवाह प्रथा का प्रबल विरोध किया है। मिश्र जी बाल-विवाह को स्त्रियों की दयनीय स्थिति का एक प्रमुख कारण मानते हैं। "बाल्य विवाह विषयक एक चीज" नामक निबंध में इसका विरोध करते हुए वे कहते हैं-

"आर्यावर्तीय जनों को सर्वथा अनिष्ट कारक होने के कारण वेदशास्त्र, पुराण तो क्या बालविवाह की विधि, आज्ञा वा प्रमाण आल्हा तक में नहीं है। शीघ्र बोध

1- भारतेन्दु समग्र: संपा0 हेमन्तशर्मा , पृष्ठ 1013

के जिन श्लोकों का प्रमाण मान के हिन्दू भाई इस घोर कुरीति पर फिदा हैं, जिनके लिए नई रोशनी वाले विचारे काशीनाथ पर फटकेबाजी करते हैं, उनका ठीक-ठीक अर्थ ही कोई नहीं विचारता, नहीं तो उनमें तो मद्य-मद्य निषेध, बरंच भयानक रीति के बाल्य विवाह का निषेध ही है।"[1]

इस प्रकार मिश्र जी वेद, शास्त्र तथा पुराण आदि का सन्दर्भ देते हुए बाल-विवाह का अनौचित्य समझाते हैं। साथ ही वे अल्पायु कन्याओं के लिए पुराणों में उल्लिखित आदरणीय एवं पूज्य अभिधानों का उल्लेख करते हुए अल्पायु कन्याओं से विवाह को असामाजिक एवं पापपूर्ण कृत्य मानते हैं। इसका एक उदाहरण दृष्टव्य है-

'अब शीघ्रबोध के बचनों पर ध्यान दीजिए- 'अष्ट' वर्षा भवेद्‌गौरी नव वर्षा च रोहिणी' इत्यादि। आठ वर्ष की लड़की गौरी है, और गौरी साक्षात् भगवान शिवजी की अर्धांगिनी, जगत की माता है और नव वर्ष की लड़की रोहिणी है , जो साक्षात् भगवान श्रीकृष्ण जी के बड़े भाई दाऊ जी (बलदेव) की माता है। इस नाते संसार की दादी हुई। भला कौन ऐसा दुष्ट नराधम राक्षस होगा जो श्रीमती पार्वती तथा रोहिणी देवी से विवाह... । अरे राम राम! करना कैसा, करने का नाम ले उसकी जीभ में कीड़े पड़ें। कहाँ रोहिणी, पार्वती, कहाँ क्षुद्र मानव तथा उसके सन्तान। और हाय रे कुजा (कहाँ) वैवाहिक सम्बन्ध! अरे भाई, ऐसा तो विचार करना यहाँ चांडालत्व है। और लीजिए- 'दशवर्षा भवेत्कन्या'। इस लेखे मनुष्यों की कन्या एवं उनके बालकों की भगिनी हुई। कहते रोंए थर्राते हैं, कौन बेटी बहिन सो ब्याह करके लेगा। हाँ, "ततश्रोर्द्ध रजस्बला' तिसके (दस वर्ष के) ऊपर जब रजस्वला होय (हो होगी बारहें तेरहें वर्ष) तब ब्याह के योग्य होगी।"[2]

1- प्रतापनारायण - ग्रन्थावलीः संपा0 विजयशंकर मल्ल , पृष्ठ 8।

2- प्रतापनारायण ग्रन्थावलीः संपा0 विजय शंकर मल्ल, पृष्ठ 8।

उपरोक्त उद्धरणों से स्पष्ट है कि मिश्र जी बाल-विवाह के कितने बड़े विरोधी थे। चूँकि उस समय भारतीय हिन्दू समाज पर धर्म का बहुत व्यापक प्रभाव था इसीलिए मिश्र जी ने जनता को बाल-विवाह के विरुद्ध संगठित करने के लिए धार्मिक अभिधानों का आश्रय लिया है। बाल-विवाह के इतने कट्टर विरोधी होते हुए भी उन्होंने सहवास बिल (AGE OF CONSENT ACT) का विरोध किया था। इसका कारण स्पष्ट करते हुए 'सहबास बिल अवश्य पास होगा' नामक निबंध में मिश्र जी कहते हैं 'सहबास बिल पास हो जाने पर यदि "किसी द्वेषी अथवा दुराचारी ने किसी रीति से लोकल गवर्नमेंट के कानों तक झूठ सच यह बात पहुँचा दी कि अमुक के यहाँ बारह वर्ष से स्वल्प अवस्था वाली स्त्री के साथ अनुचित व्यवहार हुआ है, वहीं विचारी पर्दे में रहने वाली बहू बेटियों का डाक्टर के सामने अपमानित और कचहरी में आकर्षित होना अमिट हो जायगा, बड़े-बड़े प्रतिष्ठितों का लाख का घर खाक हो जायगा।"[1]

इसी कारण मिश्र जी सरकार से निवेदन करते हैं कि इस समस्या (बाल-विवाह) को जनता के ऊपर ही छोड़ दें, जनता इसका समाधान ढूँढ़ लेगी। सामाजिक समस्याओं का समाधान केवल कानून बनाने से ही नहीं हो जाता है, अपितु इसमें जनता की समुचित भागीदारी भी अनिवार्य होती है। जनता की सक्रिय भागीदारी के बिना किसी भी सामाजिक समस्या के समाधान की कल्पना ही नहीं की जा सकती है। अतः जनता को उसके कर्तव्य का बोध कराते हुए मिश्र जी कहते हैं - "इधर देश भाइयों को भी पूर्ण उद्योग के साथ चितावें कि अब लड़के लड़कियों के ब्याह को गुड़िया गुड्डे का ब्याह समझना ठीक नहीं है।"[2]

पं0 बालकृष्ण भट्ट को बाल-विवाह से बहुत चिढ़ थी। वे चाहते थे कि इसे कानूनन बंद किया जाय। वे कहते हैं- "इसमें क्या बुनियाद है कि अमुक शिष्ट

1- प्रतापनारायण-ग्रन्थावली: संपा0 विजय शंकर मल्ल, पृष्ठ 285-286

2- वही, पृष्ठ 286

मनुष्य ने इसे प्रचलित किया है। बहुत से लोग कहते हैं, यह धर्म नहीं है। यह तो सामाजिक विषय है, इसका संशोधन हम अपने आप करेंगे। गवर्नमेंट क्यों हाथ डालती है? इसके उत्तर में हम कहते हैं- महा कंजरवेटिव इन हिन्दुओं की सत्यानाशी कौम ऐसी नहीं है कि अपने आप कुछ करें....... इसलिए सरकार ने जिस तरह सती की कुरीति उठाई उसी तरह इसे भी हम लोगों के बीच से उठा दें।"[1] वे समाज को जाग्रत करने के लिए व्यंग्यात्मक मार्मिक शब्दों में कहते हैं-

"पहला उपाय यह है कि दुहिता के जन्म दिवस के पाँचवें दिन विवाह कर दिया करो, ऐसा न हो कि कन्या कहीं रजस्वला न हो जाय, नहीं तो धर्म ही नष्ट हो जायेगा और इक्कीस पुरखे नरक में पड़े-पड़े चिल्लाया करेंगे।"[2]

भट्ट जी ने केवल बाल-विवाह का विरोध ही नहीं किया बल्कि उसको दूर करने के उपायों पर भी विचार किया। उनके 'बाल-विवाह' नामक निबंध का यह उदाहरण दृष्टव्य है-

"बाल-विवाह की बुराईयों के सम्बन्ध में कुछ कहना व्यर्थ है क्योंकि इसमें सब देश हितैषियों का एक मत है कि इससे सर्वथा हानि है। इसकी बुराइयों पर कुछ बकना छोड़ कोई उपाय सोचना चाहिए,जिससे हमारे उन बांधवों की भी भलाई हो जिनको इस कुसंस्कार ने यहाँ तक अन्धा कर रखा है कि वे उसे अपनी प्राचीन पद्धति मान बैठे हैं। इसके रोकने के तीन उपाय मेरे मन में आते हैं। पहले सामान्य शिक्षा का फैलाव। दूसरा स्त्री-शिक्षा। तीसरे अपने ही उदाहरण सो उस बुराई को दबाना अर्थात् जहाँ तक हो सके मन-बचन-कर्म से इस बुराई से बचना और इसके लिए जो भलाई का है द्वार है स्वयं खोलना।"[3]

1- भट्ट निबंधमाला, प्रथम भाग, संपा0 धनंजय भट्ट 'सरल' पृष्ठ 69

2- वही, पृष्ठ 70

3- बालकृष्ण भट्ट के निबंधों का संग्रह, संपा0 लक्ष्मी शंकर व्यास पृष्ठ 112-113

भट्ट जी के उपरोक्त सुझाव कितने सार्थक थे, इसका एहसास बीसवीं शताब्दी में किया गया। बीसवीं शताब्दी में बड़ पैमाने पर बाल-विवाह रोकने में सफलता मिली तो इसका श्रेय जाता है- सामान्य शिक्षा के प्रसार को। स्त्री-शिक्षा ने भी इसमें महत्वपूर्ण भूमिका अदा की। इसी कारण डा0 सूर्य प्रसाद शुक्ल ने सामाजिक समस्याओं से सरोकार रखने वाले विषयों को उनके लेखन का सबसे महत्वपूर्ण अंश माना है- " सबसे महत्वपूर्ण विषय थे समाज को उद्बोधन देते विचार और कुरीतियों के त्याग का संकल्प कराने वाले संदेश जो राष्ट्र के उत्थान तथा चरित्र के विकास का साहस और निर्भीकता का उपदेश नहीं कर्तव्यमय जीवन जीने का मार्ग दर्शन करत थे।"[1]

प्रेमघन जी भी बाल-विवाह के सख्त विरोधी थे। "विधवा विपत्ति वर्षा" नामक निबन्ध में इसका विरोध करते हुए वे कहते हैं- कैसे अन्याय का विषय है जबकि ऐसी अवस्था में व्याह किया जाता है जब शीतला देवी के ग्रास तुल्य अथवा नाना प्रकार की जो बाल व्याधियाँ होती हैं, उनके कराल गाल में जाने के योग्य कोमल बालक दुलारे दुलहे और गुड़ियों की तरह दुलहिनें जो विचारियों ब्याह की भाँवरी भरने को भी केवल एक खेल जानतीं, ब्याह दी गयी हैं।"[2]

विवाह दो प्राणियों का भावनात्मक मिलन होता है। दाम्पत्य जीवन में प्रीति और मेल तभी सम्भव है जब दोनों प्राणियों में भावनागत एवं स्वभावगत समानता हो। बाल-विवाह तो इतनी छोटी आयु में होता था कि दूल्हे-दुल्हन को स्वयं अपने स्वभाव की जानकारी नहीं होती थी, अपने जीवन साथी के स्वभाव, रुचि- अरुचि आदि की जानकारी होना तो दूर की बात थी। ऐसी परिस्थिति में सुखी एवं समृद्ध दाम्पत्य की आशा कैसे की जा सकती थी। इसी ओर जनता का ध्यान आकृष्ट करते

1- नागरी पत्रिका, वर्ष 28, अंक-7, 15 अक्टूबर से 15 नवम्बर, 1995 तक पृष्ठ 57

2- प्रेमघन सर्वस्व, द्वितीय भाग: संपा0 प्रभाकेश्वर प्रसाद उपाध्याय पृष्ठ- 188

हुए प्रेमघन जी कहते हैं- "ऐसी अवस्था में ऐसी निर्दयता, कठोरता और अन्याय क साथ जो विवाह प्राय बाल्यावस्था ही में किया जाता है, यद्यपि उसस जो जा आपत्तियाँ आती हैं वर्णन उनका सर्वथा असम्भव है, पर तो भी यह ता प्रसिद्ध है कि ऐसे ब्याह से आपस में प्रीति और मेल कैसे उत्पन्न होने की सम्भावना हो सकती है। अन्यान्य प्रकृति का प्रतिकूल होना हर अवस्था में दु ख का विषय किन्तु इस स्थान पर धर्माधर्म तथा शास्त्राज्ञा का कुछ भी विचार नहीं करत।"[1]

प्रेमघन जी व्यंग्यात्मक शैली में बाल-विवाह जैसी सामाजिक कुरीति का विरोध करते हुए आगे भी कहते हैं कि -" परन्तु हाँ अब तो वह समय है कि पाँच वर्ष की कन्या का विवाह आज कल के लोक और शास्त्र के अनुसार उत्तम और उचित समझा जाता है। वर भी चार पाँच वर्ष के ढूँढे जाते हैं। क्योंकि जिन्हें भगवान ने खाने पीने का ठिकाना दिया है, उनके घर की बड़ी बूढ़ी और पुराने ढंग के बूढ़े बाबा लोग सदा यही कहा करत हैं, कि " बस अब थोड़ दिन जीना और है, अपनी आँखों से लड़के पोते का विवाह देख लें फिर कुछ इच्छा नहीं।" यदि कोई भला चूका भला मानस बोल उठा कि " महाराज अभी तो लड़का शादी योग्य नहीं भया" तुरन्त कुण्ठित हो कहने लगते हैं कि "फिर क्या जब मूछ दाढ़ी आवे तब दूसरे तीसर ब्याह के समान व्यर्थ का टाटा आपको पसन्द है? भीतर से माँ जी साहिबा फर्माने लगीं कि 'अरे! दुलहा भी कहीं मुछाड़िया सोहता है?"[2]

अनमेल विवाह:

बाल विवाह के सदृश्य ही विवेच्य युग में अनमेल विवाह का भी बहुत प्रचलन था। गरीब लोग अपनी क्षुधा की शान्ति हेतु अल्पायु कन्याओं को भेड़-बकरियों

1- प्रेमघन सर्वस्व, द्वितीय भाग: संपा0 प्रभाकेश्वर प्रसाद उपाध्याय, पृष्ठ-187

2- वही, पृष्ठ 186

के समान बेच देते थे। इन कन्याओं को खरीदने वाला बूढ़ा, रोगी, कोढ़ी, चोर, डाकू कोई भी हो सकता था। इस समस्या की ओर जनता का ध्यान आकृष्ट करते हुए प्रेमघन जी कहते हैं- "जो गरीब हैं वे पापी दो वर्ष की लड़कियों को भी मिसल लौंडियों के चाहे लड़का हो या बूढ़ा, रोगी हो या कोढ़ी चोर, डाकू, जुवाड़ी वा दुष्ट हो या भला मानस, कुलीन हो या नीच, रुपिया ले बाजारी सौदासा हवाले कर देते हैं। फिर उनकी कथा कौन कही जाय। चित्त में अनुमान करने ही से जाना जा सकता है।"[1]

19वीं शताब्दी में धार्मिक अंधविश्वास का जनता पर व्यापक प्रभाव था। लोग वन-कन्या के विवाह हेतु कुण्डली का मिलना आवश्यक मानते थे। अभिभावक कन्या के रूप , गुण और शारीरिक बलादि का मिलान वर से आवश्यक नहीं समझते थे। कभी-कभी कुण्डली न मिलने के कारण ऐसी उत्तम शादियाँ भी नहीं हो पाती थीं जिनमें वर और कन्या दोनों सर्वगुण सम्पन्न होते थे तथा उनमें परस्पर काफी साम्य भी होता था। कुण्डली मिल जाने पर अंधा, लंगड़ा, काना और मूर्ख व्यक्ति से भी कन्या का विवाह कर दिया जाता था। इस प्रकार के अनमेल विवाह में दाम्पत्य जीवन कभी सुखी नहीं हो सकता था। 'कुण्डली मिलन' के इस अंध विश्वास के दुष्परिणामों की ओर ध्यान आकृष्ट करते हुए प्रेमघन जी 'विधवा विपत्ति वर्षा' नामक निबन्ध में लिखते हैं कि-

"चाहे जिस तरह का व्याह हो, ख्याल प्रायः दोई बातों का रहता है, एक तो पंडित जी की कुण्डली के विधि मिलने का , अर्थात् चाहे अंधा, काना, कुबड़ा, लूला, लंगड़ा, काला, कुरूप, मूर्ख दुष्ट, क्या सर्वादोषयुक्त क्यों न हो, कुण्डली की विधि

1- प्रेमघन सर्वस्व (द्वितीय भाग) संपा0 प्रभाकेश्वर प्रसाद उपाध्याय पृष्ठ 186

"-कोई हाथों की उहडही चूरियायें कूँच-कूँच कर चूर करतीं, कोई उनके अमल ललाट से सिन्दूर को दूर करती, कोई काजल और महावर धोती, और कोई कोई सुथरे रंगी वस्त्र छीन उसे मैली मिट्टी से रंगी मैली कुचेली धोती पहनाती और कोई सिर के बालों को खोलकर उनमें धूल भरती हैं, और कहतीं कि "तू! कोने में मूँ छिपाये बैठा रात दिन रोया कर! और अपना मूँ किसी को मत दिखाया कर! कोई शुभ कार्य को प्रारम्भ करता हो, वा किसी मंगल कार्य को जाता हो उसे यह अपना अमंगल वेष भूल कर मत दिखा, तुलसी का पूजन और ठाकुर जी की सेवा किया कर, और यह माला लेकर राम राम जपा कर।"[1]

बाल-विधवाओं की दशा तो और भी दयनीय थी। उस समय 4-5 वर्ष की उम्र में ही विवाह कर दिया जाता था। यदि विवाह के बाद वर की मृत्यु हो गयी तो इतनी छोटी कन्याओं को भी पूरा जीवन अविवाहित बिताना पड़ता था। कितनी बड़ी विडम्बना थी कि जिसकी हंसने-खेलने की उम्र होती थी, उस पर वैधव्य का इतना बड़ा भार डाल दिया जाता था। ऐसी ही बाल-विधवाओं की दयनीय दशा का वर्णन करते हुए प्रेमघन जी कहते हैं-

"अब यदि सोचिये कि कौन सा कारण ऐसा हुआ जिससे एक मनुष्य जातीय निरापराधिनी अज्ञान बालिका समग्र जीवन पर्यन्त को घोर दुख से विधवा करके बैठाई गयी, सिवाय इसके कि क्षण भर ग्रन्थि बंधन का संयोग वा हाथ का स्पर्श, सिन्दूर दान के समय मस्तक से हुआ, वा पाणिग्रहण के अतिरिक्त कुछ और नहीं। परन्तु हा! यदि इतने ही स्पर्श से विवाह माना जाय तो लड़कपन में सैकड़ों ऐसे पुरुष स्पर्श होते हैं, तो क्या सैकड़ों विवाह मान लेने होंगे?"[2]

1- प्रेमघन सर्वस्व (द्वितीय भाग): संपा0 प्रभाकेश्वर प्रसाद उपाध्याय, पृष्ठ-189

2- वही, पृष्ठ 189

विधवाओं को ऐसी दयनीय स्थिति से उबारने के लिए प्रेमघन जी ने इसी निबंध में शास्त्रों से प्रमाण देकर विधवा पुनर्विवाह का औचित्य सिद्ध किया है। लेकिन इसमें वह अवस्था और इच्छा को सर्वोपरि महत्व दते हैं -

" मेरा तात्पर्य यह नहीं कि जिसका पति मर जाय सबी का- चाहे व अस्सी वर्ष की बुढ़िया क्यों न हो- पुनर्विवाह कर दिया जाय। किन्तु यह अवस्था और इच्छा की बात है केवल इसी की रोक-टोक अवश्य उठ जानी चाहिए, क्योंकि देखिये, सुलोचना अपने पति इन्द्रजित् के साथ सती हो गयी, पर मन्दोदरी ने विभीषण को पति करके भी आनन्द से जीवन व्यतीत किया, इसी रीति से सुग्रीव ने तारा से ब्याह किया।"[1]

भारतेन्दु जी उत्साही समाज-सुधारक थे और उन्होंने विधवा-पुनर्विवाह तथा स्त्री-शिक्षा पर जमकर लिखा है। भारतेन्दु के समय नवजागरण के फल स्वरूप बंग-प्रदेश में विधवा-विवाह को कुछ-कुछ प्रश्रय मिलने लगा था, पर हिन्दी प्रदेश की स्थिति पिछड़ी थी। वहाँ विधवा-विवाह को पाप माना जाता था। भारतेन्दु "वैदेकी हिंसा हिंसा न भवति" नाटक में इस समाज का चित्र खींचा। इसके माध्यम से उन्होंने हिन्दी जनता के मध्य विधवा विवाह के प्रचार का प्रयत्न किया है। अपने विचारों के प्रतिनिधित्व के लिए उन्होंने बंगाली पात्र चुना, क्योंकि बंगाल नवजागरण का मुख्य केन्द्र था। नाटक का बंगाली पात्र कहता है- "पुनर्विवाह के न होने से बड़ा लोकसान होता है, धर्म का नाश होता है, ललनागन पुंश्चली हो जाती है, जो विचार कर देखिये तो विधवागमन का विवाह कर देना उनको नरक से निकाल लेना है और शास्त्र भी आज्ञा है।"[2] इसके विपरीत हिन्दी प्रदेश का प्रतिनिधित्व करने वाला पुरोहित कहता है—

1- प्रेमधन सर्वस्व, द्वितीय भाग: संपा0 प्रभाकेश्वर प्रसाद उपाध्याय, पृष्ठ - 203

2- भारतेन्दु समग्र संपा0 हेमन्त शर्मा, पृष्ठ 311

"जो विधवा विवाह करती है उनको पाप तो नहीं होता पर जो नहीं करती उनको पुण्य अवश्य होता है।"[1] यह कथन राजा के समक्ष बचाव के लिए किया गया है और यथास्थितिवादी है। इससे हिन्दी प्रदेश के बौद्धिक स्तर का पता चलता है। इस नाटक से यह भी पता चलता है कि भारतेन्दु अपने समाज में विधवा विवाह का वातावरण बनाने में साहित्य के क्षेत्र में कितना महत्वपूर्ण योग दे रहे थे।

भारतेन्दु जी के निबंधों में भी अनेक स्थानों पर विधवा-पुनर्विवाह का प्रसंग आया है और हर जगह भारतेन्दु ने इसका पुरजोर समर्थन किया है। 'भारतवर्ष की उन्नति कैसे हो सकती है?' नामक निबंध में उन्होंने लिखा है - "बहुत सी बातें जो समाज-विरुद्ध मानी हैं किन्तु धर्मशास्त्रों में जिनका विधान है उनको चलाइए। जैसे जहाज का सफर, विधवा विवाह आदि।"[2] वास्तव में भारतेन्दु जी का पूरा लेखन ही नारी जागरण की भावना से ओत-प्रोत है।

प्रतापनारायण मिश्र विधवा-विवाह के विरोधियों को समाज का शत्रु मानते थे। वे विधवा-विवाह के विरोधियों को दण्डित करना उचित समझते थे- "ऐसे लोगो की भी सजा ठहरा दी जाए जो कामवती बाल-विधवाओं के पुनर्विवाह में बाधक होते हैं तो सोने में सुगन्ध ही हो जाये।"[3]

बालकृष्ण के सामाजिक विचार अत्यन्त क्रान्तिकारी थे। राष्ट्रीय तथा सामाजिक समस्याओं पर स्वतंत्र विचार इनका पत्र 'हिन्दी प्रदीप' महत्वपूर्ण हो गया और 'कविवचन

1- भारतेन्दु समग्र. संपा0 हेमन्त शर्मा , पृष्ठ 311।

2- वही, पृष्ठ 1013

सुधा" के बाद इसे ही सबसे अधिक ख्याति मिली। भट्ट जी स्त्रियों की स्थिति में सुधार के लिए हमेशा प्रयत्नशील रहे। उनके द्वारा सन् 1886 में लिखित 'बाल विवाह' और स्त्रियों की मानसिक दशा' शीर्षक निबंध सामाजिक सुधार तथा क्रान्ति की प्रेरणा देते हैं। वे विधवा-पुनर्विवाह के कट्टर समर्थक थे। लोकजागरण के प्रभाव से कुछ नवयुवक विधवाओं से विवाह करने के लिए उत्सुक रहते थे और कुछ विधवाओं से विवाह कर भी लेते थे किन्तु रूढ़ेवादी लोगों द्वारा उन्हें समाज से निष्कासित करने एवं उनको सामाजिक बहिष्कार करने के कारण इन नवयुवकों का जीवन दूभर हो जाता था, परिणामतः विधवा-पुनर्विवाह में तेजी नहीं आ पा रही थी। इस तथ्य की ओर ध्यान आकृष्ट करते हुए भट्ट जी कहते हैं-

"कोई कोई नवयुवक, जिन्हें विधवा से ब्याह करने का खब्त पैदा हो गया, अपने मन की कर गुजरते हैं, पर पीछे बिरादरी से बाहर और समाज से निष्कासित हो किसी काम के नहीं रह जाते।"[1]

काशीनाथ खत्री के निबंधों में भी समाज-सुधार की भावना अत्यन्त बलवती है। 'विधवा विवाह शास्त्र विहित कर्तव्य धर्म है' नामक निबंध में उन्होंने उन लोगों का विरोध किया है जो विधवाओं के पुनर्विवाह में रुकावट पैदा करते हैं। विधवाओं की दयनीय स्थिति के सम्बन्ध में वह कहत हैं - 'क्या जगदीश ने भारतवर्ष की स्त्रियों को कन्दर्प शून्य बनाया है..... क्या उन्हें सौभाग्य की इच्छा नहीं होती? क्या ईश्वर ने सृष्टि भार में भांति-भांति क कष्ट भोगने के निमित्त उन्हीं को सृजा है? कि उन पर कोई दया नहीं करता। उनके दुःखों का कोई परिहरण नहीं करता। लोग उनको अमंगला समझते हैं। उन्हें शुभ कार्य में नहीं आने देते। सौभाग्यवती स्त्रियों के मध्य उनका बैठना अनुचित समझा जाता है। कहाँ तक लिखें उनकी परछाई तक अमंगल सूचक समझी जाती है।"[2]

1- भट्ट-निबंधावली (पहला भाग): संपा0 धनंजय भट्ट सरल, पृष्ठ 2

2- विधवा विवाह शास्त्र विहित कर्तव्य धर्म है, निवेदन, काशीनाथ खत्री 1881ई0 पृष्ठ 4-5

काशीनाथ खत्री अपने एक अन्य निबंध में विधवा-विवाह से क्या लाभ हो सकते हैं, इसके विषय में बताते हुए लिखते हैं, " संसार के और किसी देश में न तो विधवा विवाह वर्जित है और न विधवाओं की संख्या इतनी अधिक है। अधिक होने के दो मूल कारण हैं एक बाल-विवाह कर देने की कुरीति और दूसरे हर अवस्था के पुरुषों के साथ नो दस वर्ष की कन्या का विवाह कर देना। यह दोनों कारण स्वयं नष्ट हो जायेंगे, जब विधवा विवाह की प्रथा देश में प्रचलित हो जायेगी क्योंकि तब लोग योवन प्राप्ति कन्याओं के साथ विवाह करने में लज्जा करेंगे जैसे अब लज्जा करके उनके जीवन पर्यन्त के दुःख के हेतु बनते हैं और फिर तब ऐसे पुरुष जिनकी स्त्रियाँ मर गयी हों बहुधा विधवाओं से विवाह कर लिया करेंगे, उन्हें लाचार होकर अल्पवय कन्याओं से विवाह न करना पड़ेगा जो सत् पुरुष ज्ञान, समझ और मानवी स्वभाव और प्रकृति के अनुसार विचार करेंगे वह अवश्य सत् चित्त से प्रयत्न करेंगे कि यह दुष्ट कुरीति दूर हो। इनके दूर करने में ही धर्म है नहीं तो यह दीन-हीन भारत और पाप ग्रसित होकर रसातल को पहुँच जायेगा।"[1]

स्त्री-शिक्षा:

भारतेन्दु के सम्पूर्ण साहित्य में लोकजागरण के तत्व बिखरे पड़े हैं। भारतेन्दु स्त्री-शिक्षा के प्रबल समर्थक थे, भले ही वर्तमान प्रणाली पर उनका विश्वास नहीं था। इससे उनके अनुसार लाभ की अपेक्षा हानि अधिक होती है। वह मानते थे कि शिक्षा ऐसी होनी चाहिए जो जीवन को व्यावहारिक और सुखमय बना सके। वह स्वयं स्त्री-शिक्षा के निमित्त प्रयत्नशील थे। "भारतवर्ष की उन्नति कैसे हो सकती है?" नामक निबन्ध में वे कहते है-

"लड़कियों को भी पढ़ाइए, किन्तु उस चाल से नहीं जैसे आजकल पढ़ाई जाती है जिसके उपकार के बदले बुराई होती है। ऐसी चाल से उनको शिक्षा दीजिए

1- भारत जीवन, प्रेरित पत्र 21 जुलाई 1884ई0 (विधवा विवाह पर क्षत्री हितकारी की सम्मति) पृष्ठ 5

कि वह अपना देश और कुलधर्म सीखें, पति की भक्ति करें, और लडकों को सहज में शिक्षा दें।"[1]

भारतेन्दु जी स्त्रियों की दशा में सुधार हेतु जीवन भर कार्य करते रहे। उन्होंने 'बाला बोधिनी' नामक पत्रिका निकाली यह महिलाओं की मासिक पत्रिका थी जिसमें महिला-शिक्षा तथा 'महिला-मुक्ति-आन्दोलन' का जोरदार समर्थन होता था। अपने विषय की यह एक अग्रणी पत्रिका थी। स्त्री-शिक्षा के लिए भारतेन्दु जी द्वारा किये गये कार्यो को याद करते हुए मीना अग्रवाल लिखती हैं.-

"भारतेन्दु मिस मेरी कारपेन्टर के स्त्री-शिक्षा सम्बंधी उद्योग में विशेष सहायक थे। जब-जब बंगाल, बम्बई और मद्रास प्रान्त में स्त्रियाँ अच्छे अंकों में परीक्षा उत्तीर्ण होती थीं तब-तबउनका उत्साह बढ़ाने के लिए भारतेन्दु उन सबों को बनारसी साड़ी आदि भेजा करते थे। कलकत्ता बियून कॉलेज की लड़कियों के लिए एक बार जो साड़िया भेजी गयी थीं, उनको लेडी रिपन ने प्रसन्नतापूर्वक अपने हाथ से बॉटा था। बंगाल के डाइरेक्टर क्राफ्ट साहिब ने भारतेन्दु को आन्तरिक धन्यवाद देकर लिखा था कि जिस समय इनका उपहार बॉटा गया, आनन्द की करतल ध्वनि से सभास्थल गूॅज् उठा।"[2]

इस युग के निबंधकारों का विचार था कि पुरुष चाहे जितना पढ़-लिख ले लेकिन जब तक नारी की दशा नहीं सुधरेगी तब तक देश की उन्नति नहीं हो सकती। इसीलिए उन्होंने स्त्री शिक्षा के लिए जनता को प्रोत्साहित किया। पं0 बालकृष्ण भट्ट ने 'नारी शिक्षा' 'भारतीय नारी' 'हमारी ललनाओं की शोचनीय अवस्था' आदि अनेक

1- भारतेन्दु समग्र: संपा0 हेमन्त शर्मा, पृष्ठ 1013

2- भारतेन्दु और भारतीय नवजागरण: संपा0 शंभुनाथ अशोक जोशी, पृष्ठ 54

निबंधों में स्त्री-शिक्षा की जमकर वकालत की है। अपने एक निबंध में वह लिखते हैं -

"अबलाओं में भी हमारी भारत ललना गुण गौरव में प्रथम और सर्वश्रेष्ठ हैं- तन-मन-धन जलाकर और सर्वस्व सुख से हाथ धो कुल की मर्यादा का निर्वाह कर देना आर्य- कुलकामिनी ही जानती है.... जो यूरोप की सुशिक्षित रमणी सौ बार जन्म लेकर भी नहीं कर सकती।"[1]

भट्ट जी का मत था कि "भारतीय स्त्रियाँ अशिक्षित होने पर भी गुणवती होती हैं। हमारी ललनायें पढ़ी-लिखी नहीं होतीं पर शालीनता, धीरापन , सबर और सहनशीलता में पृथ्वी भर की स्त्रियों के बीच एक उदाहरण हैं।"[2] ऐसी गुणवती नारियों को यदि उचित शिक्षा दी जाए तो देश उन्नत दशा को प्राप्त कर सकता है क्योंकि देश की उन्नति के लिए स्त्री-शिक्षा का होना अनिवार्य है। वे कहते हैं " हमें कुछ ऐसा ही सूझता है कि पूर्ण विद्या का अभ्यास यदि स्त्रियों में फैले तो वह उनका बड़ा उत्तम आभूषण हो।"[3]

भट्ट जी की कामना थी कि अपने देश की स्त्रियाँ भी विदेशों के समान पुरुष के कन्धे से कन्धा मिलाकर चलें। अपने एक निबंध में वह लिखते हैं, "किसी-किसी देश में जहाँ सभ्यता अपनी चरम सीमा को पहुँची है, स्त्रियों को मरदों के बराबर का दावा है । यहाँ तक कि अमरीका में स्त्रियाँ फौज तक में जाती हैं। इंग्लेण्ड की कितनी ही स्त्रियाँ बैरिस्टर हैं।"[4]

1- भारतेन्दुयुगीन साहित्य में राष्ट्रीय भावना: पुष्पा थरेजा, पृष्ठ 193-194

2- वही, पृष्ठ 194

3- बालकृष्ण भट्ट के निबंधों का संग्रह: लक्ष्मी शंकर व्यास, पृष्ठ 111

4- हिन्दी-प्रदीप, जून 1891, पृष्ठ 7

भारतेन्दु की तरह ही प्रतापनारायण मिश्र जी भी स्त्री शिक्षा पर बहुत बल देते थे। उनका मत था कि यद्यपि कुछ लोगों ने इस दिशा में काफी प्रयास किया लेकिन स्त्री शिक्षा का संतोषजक प्रसार न हो सका। 'स्त्री' नामक निबंध में वे कहते हैं - "न जाने इतने देशभक्त, इतने व्याख्यानदाता, इतने पत्र सम्पादक स्त्रियों के सुधार में बरसों से क्यों नहीं कुछ कर सके। पुरुषों के लिए सब कहीं पाठशाला है, इनके लिए यदि है भी तो न होने के बराबर। यदि आज सब लोग इधर झुक पड़े तो शायद कुछ दिन में कुछ आशा हो।"[1]

मिश्र जी स्त्री-शिक्षा के प्रसार के लिए 'ब्राह्मण' में सदैव कुछ न कुछ लिखते रहते थे। 'बाल शिक्षा' नामक निबंध में उन्होंने स्त्री-शिक्षा के महत्व पर विस्तार से प्रकाश डाला है। यह सर्वमान्य सत्य है कि स्त्री के अशिक्षित होने का सबसे बुरा प्रभाव उसकी भावी पीढ़ी (बच्चों) पर पड़ता है। यदि माँ अशिक्षित होगी तो बच्चों में उचित संस्कार एवं ज्ञान की अपेक्षा कैसे की जा सकती है? देश की प्रगति तभी सम्भव है जब हमारी भावी पीढ़ियाँ सुशिक्षित हों और यह पूर्ण रूपेण तभी सम्भव है जब स्त्री-शिक्षा का व्यापक प्रसार हो। इसी ओर ध्यान आकृष्ट करते हुए मिश्र जी कहते हैं- "बालकों को पहिले-पहिले और अधिकाधिक काम माता से पड़ता है अतः माता का परम धर्म है कि अपने संतान को सुशिक्षित करें। पर खेद है कि हमारे देश में स्त्री शिक्षा का अभाव सा है अत: माता स्वयं अशिक्षिता है। वे लड़कों को क्या शिक्षा देंगी। पर हाँ पिता को योग्य है कि बालक पर भी ध्यान रक्खें और उनकी माता पर भी।"[2]

भारतेन्दु कालीन निबंधकारों ने अपने सरल, सहज, आकर्षक तथा हास्य-व्यंग्यपूर्ण निबंधों में देश, धर्म तथा समाज की यथार्थ स्थिति का परिचय देते हुए जनजीवन की विविध समस्याओं को बहुत ही सुन्दर ढंग से सुलझाने का स्तुत्य प्रयास किया।

1- प्रतापनारायण - ग्रन्थावली: संपा0 विजयशंकर मल्ल, पृष्ठ 141

2- वही, पृष्ठ 161

अपने निबंधों में इन्होंने शासकों की शोषण नीति, धार्मिक कूपमंडूकता एवं सामाजिक रूढ़ियों की आलोचना कर पाठकों के हृदय में एक अपूर्व मानसिक क्रान्ति का आविर्भाव किया और उसे नवीन सामाजिक चेतना से भर दिया। समुद्र-यात्रा निषेध, छुआछूत, दहेज-प्रथा तथा साम्प्रदायिक विद्वेष आदि सामाजिक-धार्मिक समस्याओं का इन्होंने तार्किक ढंग से खण्डन किया। हिन्दू धर्म में समुद्र यात्रा वर्जित थी और जो व्यक्ति इसका उल्लंघन करते थे उन्हें धर्म से च्युत कर दिया जाता था परिणामतः इनका सामाजिक बहिष्कार भी हो जाता था। इस वर्जना के कारण भारत का सम्पर्क शेष विश्व से कट गया था और वह विश्व की वैज्ञानिक , तकनीकी एवं शैक्षणिक विकास से अनभिज्ञ था। भारत के सामाजिक - आर्थिक पिछड़ेपन का यह एक महत्वपूर्ण कारण था। भारतेन्दु ने इसका विरोध किया और विदेश-यात्रा की हिमायत की, "बहुत सी बातें जो समाज-विरुद्ध मानी हैं किन्तु धर्मशास्त्रों में जिनका विधान है उनको चलाइए। जैसे जहाज का सफर, विधवा विवाह आदि।"[1]

प्रतापनारायण मिश्र जी ने भी समुद्र-यात्रा निषध को अनुचित माना है और विदेश यात्रा का समर्थन किया है। दाँतों के माध्यम से अपन मन्तव्य को स्पष्ट करते हुए वे कहते हैं- "हाँ, यदि आप इसका यह अर्थ समझें कि कभी किसी दशा में हिन्दुस्तान छोड़के विलायत जाना स्थान भ्रष्टता है तो यह आपकी भूल है। हँसने के समय मुँह से दाँतों का निकल पड़ना नहीं कहलाता बरंच एक प्रकार की शोभा होती है। ऐसे ही आप स्वदेश चिन्ता के लिए कुछ काल देशांतर में रह आएं तो आपकी बड़ाई है।"[2]

उन्नीसवीं शताब्दी में जाति-पाँति और छुआ-छूत की भावना ने हिन्दू समाज को ग्रसित कर रखा था। इससे परस्पर मेल-मिलाप और सामुदायिक भावना का लोप हो गया था। इस कुप्रथा ने समाज को खोखला कर दिया था जिससे अंग्रेजी हुकूमत

1- भारतेन्दु समग्रः संपा0 हेमन्त शर्मा, पृष्ठ 1013

2- प्रतापनारायण मिश्र ग्रन्थावलीः संपा0 विजयशंकर मल्ल, पृष्ठ-182

के खिलाफ संगठित आन्दालन में भी बाधा उत्पन्न हो रही थी। छुआछूत, वर्णाश्रम धर्म की संकीर्णता का विरोध करते हुए भारतेन्दु जी ने 'भारतदुर्दशा' नामक नाटक में लिखा है-

"बहुत हमने फैलाये धर्म,बढ़ाया छुआछूत का कर्म"।

इसी प्रकार जाति-पाँति और छुआछूत के भाव से उत्पन्न आडम्बरों का एक हास्य-व्यंग्यपूर्ण चित्र दर्शनीय है-

"एक मथुरा का चौबे कहीं बैल पर चढ़ा पूरियाँ खाता चला जाता था, किसी कान्यकुब्ज पण्डित ने देखकर ठठ्ठे सो पूछा कि चौबे जी तुम तो चौक में न बैठकर बैल पर बैठे पूरियाँ खाते जाते हो सो इसका प्रमान क्या है? उत्तर दिया कि प्रसिद्ध को प्रमान कुछ नहीं चाहियत, बोला सो क्या? उसने कहा कि चोका याही के मार्ग सों निकस्यो है, इस बात को सुनते ही वह पण्डित हँस कर रह गया।"[1]

भारतेन्दु युगीन सभी निबंधकार समाज में व्याप्त छुआछूत की भावना को देश की उन्नति में बाधक समझते थे। यह छुआछूत की भावना कहीं-कहीं तो इस हद तक बढ़ गयी कि लोग अछूतों का अपने पास तक आना अथवा उन्हें देखना भी पाप समझते थे। इस जातिगत अस्पृश्यता की भावना ने भारतीय समाज में एक ऐसी दरार उत्पन्न कर दी थी जो निरन्तर बढ़ती ही जा रही थी। जातिगत मान्यता के चलते जो एक बार ऊँची जाति में जन्म ले लेता था वह चाहे दुर्गुणों की खान ही क्यों न हो वह श्रेष्ठ ही रहता था, इसके विपरीत छोटी जाति का होने पर सर्वगुण सम्पन्न और आचरणवान होने पर भी नीच और अछूत ही रहता था। इस जातीय दुर्दशा से भट्ट जी बहुत खिन्न रहते थे। समाज में फैली हुई इस कुरीति का उन्होंने पूरी उग्रता के साथ विरोध करते

1- हरिश्चन्द्र चन्द्रिका, जनवरी 1879 ई0 पृष्ठ 32

हुए लिखा कि इस समय जाति-पाँति क जो नियम हैं उनका परिवर्तित करना अत्यन्त आवश्यक हे। जाति-पाँति के सर्वनाश क बिना दश की उन्नति नहीं हा सकती। उन्होंने देश की प्रगति के मार्ग में जाति-पाँति को सबसे बडा बाँधा माना है- "हमारी उन्नति के पथ में काँटा बोने वाले जहाँ और बहुत से कारण हुए हे उनमें से जाति-विवक को भी हम यहाँ अनिष्ट, सर्वविध्वंसी केतु ग्रह के समान मानते हैं।"[1]

आलोच्य युग में दहेज प्रथा का बहुत प्रचलन था। दहेज के कारण अनेक लोग अपनी कन्याओं का विवाह नहीं कर पाते थे। राजपूतों में तो दहेज के डर से पैदा होते ही कन्याओं का वध कर दिया जाता था। उन्नीसवीं शताबदी का जागरूक निबंधकार इस बात से अत्यंत व्यथित था । इसलिए इस युग क निबंधकारों ने अन्य सामाजिक बुराइयों के समान इस भयंकर कुप्रथा का भी विरोध किया। पं0 बालकृष्ण भट्ट दहेज के कट्टर विरोधी थे। वे अक्सर कहा करते थे- "खाने को जुटता नहीं लडकी व्याहना है। एक हजार हो तो ब्याही जाय.... जायदाद गिरवी रख दी, रूपया कर्ज लिया और मनमाना खर्च किया। दो तीन वर्ष में ब्याज का ब्याज जोड़ते-जोड़ते हजार के दो हजार हुए जायदाद गिरवी थी ही एक-दो-तीन बोल गई। खूब नाक की लाज रही।"[2]

इसी प्रकार प्रेमघन जी ने भी इस कुप्रथा का विरोध किया। उनका कहना था कि गरीब लोग तो इस दहेज के कारण अपनी लड़कियां का ब्याह किसी बूढ़े, रोगी या कोढ़ी तक से कर देते हैं क्योंकि यदि किसी अच्छे वर से शादी करना चाहते तो ढ़ेर सारा रूपया कहाँ से लाते। 'विधवा विपत्ति वर्षा' नामक निबंध में वे कहते हैं "जो कि यद्यपि रोटियों से भी दुखी है, पर तो भी कानी कौड़ी को हराम मानते हैं और चित्त से धर्म, परलोक और ईश्वर का डर मानते हैं, यदि अच्छे कुल में विवाह

1- भट्ट निबंधमाला,द्वितीय भाग: संपा0 धनंजय भट्ट 'सरल' पृष्ठ-13

2- हिन्दी-प्रदीप, जुलाई 1880, पृष्ठ 8

करने को हठ करते ता न उन्हें दहेज में देने का गठरी की गठरी रूपया पाते न व्याह होता।"[1]

19वीं शदी मे साम्प्रदायिक-विद्वेष एक प्रमुख समस्या बनती जा रही थी। 1857 के विद्रोह के बाद अंग्रेजों ने 'बाँटो और राज्य करो' की नीति सक्रियता स अपनाई और हिन्दुओं-मुसलमानों को आपस में लडाया। साम्प्रदायिकता की समस्या दिनोंदिन गम्भीर होती गयी और इसी कारण भारत का विभाजन भी हुआ। उन्नीसवीं शताब्दी के अधिकांश निबंधकारों ने हिन्दू-मुस्लिम एकता की वकालत की। उनका दृढ़ विश्वास था कि देश एवं राष्ट्रीय आन्दोलन की प्रगति क लिए धार्मिक सहिष्णुता एवं हिन्दू-मुस्लिम एकता की अनिवार्य आवश्यकता है। यद्यपि कुछ निबंधकारों ने जहाँ-तहाँ मुसलमानों के बारे में ऐसी टिप्पणियाँ की हैं जो आधुनिक प्रगतिशील दृष्टि के मेल में नही हैं। किन्तु ऐसे प्रसंग बहुत कम हैं। साम्प्रदायिक विद्वेष को रोकने हेतु निबन्धकारों ने दोनों समुदायों से संयम बरतने की अपील की है। भारतेन्दु जी कहते हैं- "मुसलमान भाइयों को भी उचित है कि इस हिन्दुस्तान में बसकर वे लोग हिन्दुओं को नीचा समझना छोड़ दें।"[2]

आगे हिन्दुओं को समझाते हुए भारतेन्दु जी कहते हैं- "भाई हिन्दुओं! तुम भी मत-मतान्तर का आग्रह छोड़ो। आपस में प्रेम बढ़ाओ। इस महामंत्र का जप करो। जो हिन्दुस्तान में रहे, चाहे किसी रंग किसी जाति का क्यों न हो, वह हिन्दू। हिन्दू की सहायता करो। बंगाली, मराठा, पंजाबी, मदरासी, वैदिक, जैन, ब्राह्मो,मुसलमान सब एक का हाथ एक पकड़ो।"[3]

1- प्रेमघन सर्वस्व (द्वितीय भाग): संपा0 प्रभाकेश्वर प्रसाद उपाध्याय पृष्ठ-186

2- भारतेन्दु समग्र: संपा0 हेमन्त शर्मा, पृष्ठ 1013

3- वही, पृष्ठ 1013

इसी प्रकार प्रतापनारायण मिश्र जी भी राष्ट्र की प्रगति के लिए धार्मिक-सहिष्णुता एवं हिन्दू मुस्लिम एकता की आवश्यकता महसूस करते थे- "हिन्दू मुसलमान दोनों भारतमाता के हाथ हैं। न इनका इनके बिना निबाह है न उनका उनके बिना। अतः सामाजिक नियमों में एक दूसरे के सहायक हों। इसमें दोनों का कल्याण है। कोई दाहिने हाथ से बायाँ हाथ अथवा बायें हाथ से दाहिना हाथ काट के सुखी नहीं रह सकता।"[1]

भारतेन्दु जी मात्र हिन्दू समाज को ही अंधविश्वासों और सामाजिक रूढ़ियों से मुक्त नहीं करना चाहते थे, अपितु वे मुस्लिम समाज को भी आधुनिक एवं प्रगतिशील तथा आर्थिक रूप से सम्पन्न देखना चाहते थे। उनकी अपनत्व भरी चिन्ता मुस्लिम समाज के प्रति इस रूप में प्रकट है- "जो बात हिन्दुओं को नहीं मयस्सर है वह धर्म के प्रभाव से मुसलमानों को सहज प्राप्त हैं। उनमें जाति नहीं, खाने पीने में चौका चूल्हा नहीं, विलायत जाने में रोक टोक नहीं। फिर भी बड़ ही सोच की बात है, मुसलमानों ने अभी तक अपनी दशा कुछ नहीं सुधारी।"[2]

अतः कहा जा सकता है कि उन्नीसवीं शताब्दी के निबंधकारों ने अपने सरल, सहज, आकर्षक तथा हास्य-व्यंग्यपूर्ण निबंधों में देश, धर्म तथा समाज की यथार्थ स्थिति का परिचय दते हुए जनजीवन की विविध समस्याओं को बहुत ही सुन्दर ढंग से सुलझाने का स्तुत्य प्रयास किया । जाति प्रथा, छुआछूत, बाल-विवाह, वृद्ध-विवाह, विधवा-विवाह, कुप्रथाओं, पाखण्डों, रूढ़ियां और प्रतिबंधों पर निबंधकारों ने समान रूप से अपनी लेखनी चलाई। राष्ट्रीयता , देशप्रेम तथा समाज सुधारवादी भावनाओं से ओतप्रोत इस काल के निबंधों ने अज्ञान के तिमिर से ग्रस्त जनजीवन पथ को नवीन चेतना के प्रकाश से आलोकित किया। परिणामतः पाठकों के हृदय में एक अपूर्व मानसिक क्रान्ति

1-. प्रतापनारायण-ग्रन्थावली: संपा0 विजयशंकर मल्ल, पृष्ठ 127

2- भारतेन्दु समग्र: संपा0 हेमन्त शर्मा, पृष्ठ 1013

का आविर्भाव हुआ जिसके फलस्वरूप जनसाधारण ने अंग्रजी शासन से उत्पन्न दुःखों, शासको की शोषणनीति, धार्मिक कूप मंडूकता एवं सामाजिक रूढ़िया की आलोचना तथा विरोध करना सीखा। और उसने धार्मिक एवं सामाजिक बुराइयां का अंत कर समाज में समानता, स्वतंत्रता तथा मानवतावादी मूल्यों को स्थापित करने का प्रयास शुरू किया। सामाजिक सुधार विशेषकर नारी उद्वार, अछूतोद्धार एवं शिक्षा के प्रसार की दिशा में उल्लेखनीय काम हुए। 19वीं शताब्दी के सामाजिक-धार्मिक सुधार आन्दालनों का प्रभाव जहाॅ मुख्यत· शहरी मध्यवर्ग के लोगों तक सीमित था वहीं हिन्दी निबंध साहित्य में प्रतिबिम्बित लोक जागरण का प्रभाव दूर दराज क गॉवां मं रहन वाले किसानों, मजदूरों एवं शिल्पकारों पर भी पडा। साथ ही इस लोक जागरण की जड़ अपने देश और समाज में ही थीं ओर यह पाश्चात्य सभ्यता एवं संस्कृति क अंधानुकरण स भी मुक्त था। सही अर्थो में यह एक जनवादी आन्दोलन था जिससे धर्म, समाज और राजनीति के सामंती मान्यताओं पर कठोर कुठाराघात किया। यह आन्दोलन एक ओर अंग्रजी राज्य का विरोध करता था तो दूसरी ओर वह भारतीय रूढ़िवाद का भी चुनौती देता था।

अध्याय-चार

उन्नीसवीं शताब्दी का लोकजागरण और उसका राष्ट्रीय स्वरूप: निबंध विधा के विशेष सन्दर्भ में

उन्नीसवीं शताब्दी का लोकजागरण और उसका राष्ट्रीय स्वरूप·

निबन्ध विधा के विशेष सन्दर्भ में :

साहित्य अपने युग का दर्पण होता है। युग की विभिन्न राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक एवं धार्मिक परिस्थितियाँ निश्चित रूप से साहित्य दर्पण पर प्रतिबिम्बित होती है। साहित्यकार जिन अनुभूतियों से अनुप्राणित होता है वह उसके युग परिवेश में विद्यमान होती है। वस्तुतः ऐतिहासिक परिस्थितियाँ साहित्य सृजन की मूल प्रेरणा होती है। साहित्यकार जहाँ अपनी युग-चेतना से प्रभावित एवं प्रेरित होता है वहीं उसका साहित्य अपने युग की भावी सम्भावनाओं और प्रेरणाओं का आधार स्तम्भ भी होता है।

19वीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध जो "भारतेन्दु युग" के अभिधान से जाना जाता है वस्तुतः नवजागरण का युग था। 1857 में विप्लव की असफलता के उपरांत कम्पनी शासन से मुक्त होकर भारत पर महारानी का शासनतंत्र स्थापित हो चुका था। भारत वर्ष अब विशाल अंग्रेजी शासन का अंग बन गया था। जनता अंग्रेजी शासन के अत्याचार से पीड़ित थी। उस समय देश की अर्थ-व्यवस्था पर तो विदेशी शासन से करारी चोट पड़ी थी साथ ही सामाजिक तथा धार्मिक व्यवस्था भी अत्यन्त विकट थी। समाज जाति-पाँति, रूढ़ियों, अंध-विश्वासों और कुरीतियों के बीच विघटित हो रहा था। विभिन्न धार्मिक सम्प्रदायों के बीच होने वाले टकराव समाज और धर्म की नियति बन गये थे।

सौभाग्यवश इसी समय राजा राममोहन राय, स्वामी दयानन्द सरस्वती, रामकृष्ण परमहंस, विवेकानन्द एनी बेसेंट प्रभृति मनीषियों का भारतीय सांस्कृतिक मंच पर प्रवेश हुआ और देश में नवीन चेतना और जागरण की लहर दौड़ गयी। फलतः भारतीय जन जागरण एक नई पुनरुत्थान एवं जागरण की प्रक्रिया का स्पन्दन करने लगा। ये भारतीय जन मानस को रूढ़िबद्धता एवं संकीर्ण मानसिकता से विमुक्त कर व्यापक युग चेतना का अनुभव करना चाहते थे।

विदेशी शासन से जहाँ भारतीयों का अपार मानसिक पीड़ा और आर्थिक शोषण का शिकार होना पडा वही पश्चिमी सभ्यता और संस्कृति का सम्पर्क उनमें नव चेतना के भावों को जागृत करने में भी प्रभावशील रहा। "अंग्रेजों ने अपनी शासन-व्यवस्था को सुचारिता तथा स्थायित्व देने की दृष्टि से शिक्षा संस्थाओं की स्थापना की, जिससे एक नये बाबू वर्ग का जन्म हुआ। यह बाबू वर्ग देश में अंग्रेजी शासन की जड़ जमाने का साधन बना तो उसके विरुद्ध विद्रोह की चिंगारी फूँकने में भी आगे रहा। रेल, तार, डाक, सड़कों की स्थापना ने जहाँ एक ओर अंग्रेजी शासन को सुविधा प्रदान की वहाँ वह देश के विभिन्न भागों को एक दूसरे के सम्पर्क में लाकर राष्ट्रीयता को जगाने का माध्यम भी बनी।"[1]

भारतेन्दुयुगीन लोकजागरण के सन्दर्भ म साहित्यिक दृष्टि से दो महत्वपूर्ण (युगान्तकारी) उपलब्धियाँ दृष्टिगत होती है। प्रथम हिन्दी पत्रकारिता और द्वितीय खड़ी बोली गद्य का जन्म एवं प्रसार। हिन्दी पत्रकारिता का उद्भव 19वीं शताब्दी का परम पुण्य प्रदेय है। भारतीय नवजागरण के लिए लिए मुद्रण कला वरदान स्वरूप सिद्ध हुई।

यदि कहा जाए कि भारतेन्दु ~~अंग्रेज़~~ एक व्यक्ति का नाम नहीं युग विशेष की चेतना का नाम है तो अतिशियोक्ति न होगी। हिन्दी साहित्य के आधुनिक युग के सूत्रधार, हिन्दी गद्य के जनक और उत्तर भारत में लोक जागरण के अग्रदूत भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ही थे। अपने युग की चेतना को आत्मसात् कर भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने जन-जागरण का जो शंखनाद किया, वह हिन्दी साहित्य का परम पावन अध्याय है।

भारतेन्दु को अपनी मातृभाषा और स्वदेश दोनों से अगाध प्रेम था। इसी प्रेम की अभिव्यक्ति एवं समुन्नति के लिए वे जीवन पर्यन्त सक्रिय रहे। श्याम सुन्दर दास भारतेन्दु

1- हिन्दी के गद्यकार और उनकी शैलियाँ: राम गोपाल सिंह चौहान, पृष्ठ-31

के देश हितैषी रूप को अन्य रूपों से विशिष्ट स्थान देते हुए लिखते हैं- "इसी देश भक्ति के भाव से प्रेरित होकर वे सब कार्यों में प्रवृत्त होते थे। यह उनका जीवन व्यापी भाव तथा ध्येय था। हमारी समझ में भारतेन्दु की इतनी महत्ता इसलिए नहीं स्वीकार की जानी चाहिए कि वे उच्च कोटि के कवि, हिन्दी को नया जीवन तथा स्वरूप देने वाले आदरणीय गद्य लेखक अथवा नाट्य-साहित्य की नींव रखने वाले नाट्यकार थे, जितनी इस बात के लिए मानी जानी चाहिए कि वे भारतभूमि की हित चिन्ता में निरंतर रहकर उसके अभ्युदय की सदा कामना करने वाले थे.... देश हितैषिता उनका मुख्य प्रेरक भाव था और सब बातें गौण तथा उस मुख्य भाव की पुष्टि के लिए थीं।"[1]

भारतेन्दु जी के हृदय में पराधीनता के कारण बड़ी पीड़ा थी। वे देश को दासत्व के बन्धन से मुक्त देखना चाहते थे। उन्होंने भारतीय जनता में देश-प्रेम और भाषा-प्रेम जागृत करने के लिए 'कवि-वचन-सुधा', हरिश्चन्द्र मैगनीज, 'बाला बोधिनी' तथा 'भागवत तोषिनी' आदि पत्रिकाओं का सम्पादन किया। 1868 ई0 में 'कवि-वचन सुधा' का प्रकाशन एक ऐतिहासिक घटना थी। इसमें राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक , ज्योतिष तथा यात्रा सम्बन्धी लेख एवं कविताएं प्रकाशित होती थीं। भारतेन्दु ने उक्त पत्रिकाओं के माध्यम से हिन्दी गद्य के विविध रूपों का विकास तो किया ही साथ ही हिन्दी प्रदेश की जनता के सामाजिक एवं सांस्कृतिक जीवन में क्रान्तिकारी परिवर्तन दिया था। भारतेन्दु की प्रेरणा से पूरा 'भारतेन्दु मण्डल' इस दिशा में उनके पीछे चला पड़ा।

भारतेन्दु जी की रचनाओं में हमें प्रायः देशभक्ति और राजभक्ति की भावनायें साथ चलती हुई और आपस में मेल रखती हुई जान पड़ती हैं। उनके साहित्य में रीतिकाल की अनेक विशेषताएं भी विद्यमान हैं। जिसे दृष्टिगत कर अनेक आलोचकों ने भारतेन्दु

1- भारतेन्दु हरिश्चन्द्र डा0 लक्ष्मी सागर वार्ष्णेय, पृष्ठ 28-29

को अंग्रेजी हुकूमत का समर्थक (राजभक्त) होने का आरोप लगाया है। किन्तु व्यापक सन्दर्भो में देखने पर ये आरोप निराधार लगते हैं। "भारतेन्दु बाबू एक ऐसे समय की उपज थे जो भारत के राजनीतिक सामाजिक तथा सांस्कृतिक जीवन में संक्रांति का समय था। यह वह समय था जबकि भारतीय मानस मध्य काल से आधुनिक काल में संक्रमण कर रहा था।"[1] अतः राज भक्ति और रीतिकालीन विशेषताएं उनके समय की अनिवार्यता थी। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने और उनके समकालीन लेखकों ने कई जगह अंग्रेजों की और अंग्रेजी राज की प्रशंसा की है। इस सन्दर्भ में हमें यह याद रखना चाहिए कि भारतेन्दु युग के लेखक अंग्रेजीराज की आलोचना अंग्रेजी कानून की सीमाओं के भीतर ही कर सकते थे, उनके पास गैर कानूनी गुप्त पत्रिकायें नहीं थीं कि उनमें जो चाहते वह लिखते। वस्तुतः "भारतेन्दु और उनके युग की यह राज भक्ति महज एक खोल है जिसे इन लेखकों ने ब्रिटिश शासकों को उनका असली चेहरा दिखाने के लिए ओढ़ा है।"[2]

भारतेन्दु की राष्ट्रभक्ति का स्वरूप स्पष्ट करते हुए डा0 शिव कुमार मिश्र कहते हैं- "जहाँ तक भारतेन्दु की राष्ट्रभक्ति का सवाल है वह भी काफी अर्से तक ऐसी राष्ट्रभक्ति है, जिसमें देश-दशा के प्रति पीड़ा देशवासियों की दुर्गति पर क्षोभ और अवसाद देशोद्धार की वास्तविक चिंता, देश के रूढ़ि-जर्जर स्वरूप पर खेद और आक्रोश अपनी परम्परा पर गर्व, अपनी अस्मिता को पाने की ललक तथा प्रगति के नये रास्तों पर देश को ले जाने की चिंता, पराधीनता तथा आर्थिक शोषण से उसकी मुक्ति की प्रबल आकांक्षा और उसके लिए किये गये प्रयास आदि तो हैं, परन्तु यह सब राज-राजेश्वरी के संरक्षण में हो सकेगा इस बात का भोला विश्वास भी है। ब्रिटिश सत्ता के उन्मूलन की बात उसमें नहीं है। ब्रिटिश राज के आर्थिक शोषण के प्रति उसमें जितनी तीखी प्रतिक्रिया है, ब्रिटेन की राजनीतिक सत्ता के

1- भारतेन्दु और भारतीय नवजागरणः संपा0 शंभुनाथ, पृष्ट-62

2- वही, पृष्ठ 64

खात्मे तथा पराभव का भाव उसमें लगभग नहीं है और तत्कालीन युग सन्दर्भों में यह स्वाभाविक भी कहा जायगा।"[1]

जिस राष्ट्रभक्ति की परिकल्पना हम आज करते हैं वह भारतेन्दु युग में सम्भव नहीं थी। क्योंकि जो व्यक्ति या संगठन ब्रिटिश शासन के उन्मूलन की माँग उस समय करते उन्हें निर्दयतापूर्वक कुचल दिया जाता। यही कारण है कि भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस भी अपनी स्थापना से 20वीं शताब्दी के प्रारम्भिक वर्षो तक ब्रिटिश शासकों का गुणगान करती रही, फिर भारतेन्दु से हम अपने युग के अनुरूप राष्ट्रीयता की मांग कैसे कर सकते हैं।

यद्यपि भारतेन्दु के लेखन का अधिकांश भाग राजभक्ति का लेखन है किन्तु अन्ततः उनकी राष्ट्रभक्ति ही उनके मूल्यांकन में निर्णायक साबित होती है। भारतेन्दु जैसे-जैसे देश की वास्तविक स्थिति से परिचय प्राप्त करते जाते हैं, देशवासियों के नजदीक आते जाते हैं और उनके राष्ट्रभक्ति का स्वर भी प्रखर होता जाता है और अन्ततः ब्रिटिश शासन के प्रति उनके मन का भोला विश्वास खण्ड-खण्ड हो जाता है और वे इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि भारत देश और देशवासियों का उद्धार अब किसी से नहीं होगा, वह उनके अपने प्रयासों से ही होगा। उनका बलिया में दिया गया प्रसिद्ध भाषण उपरोक्त कथन का प्रमाण है जिसमें उन्होंने देशवासियों से अपने उद्धार के लिए कमर कसकर आगे आने की जोरदार अपील की है। राज राजेश्वरी से उनके मोहभंग का प्रमाण 'भारत-दुर्दशा' नाटक में भारत भाग्य द्वारा आत्म हत्या किये जाने पर "भारत दुर्दैव" की यह टिप्पणी है- "कहाँ गया भारत मूखरी जिसको अब भी परमेश्वर और राज राजेश्वरी का भरोसा है। देखें तो अभी इसकी और क्या दुर्दशा होती है।"[2]

1- भारतेन्दु और भारतीय नवजागरण: संपा0 शंभुनाथ, पृष्ठ 62

2- भारतेन्दु समग्र: संपा0 हेमन्त शर्मा, पृष्ठ 462

भारतेन्दु जी एक यथार्थवादी साहित्यकार थे। उन्होंने सदा देश भक्ति, लोकहित, समाज सुधार और स्वतंत्रता प्रिय विचार प्रकट किये हैं। उनके यथार्थवाद का एक रूप यह भी रहा है कि उन्होंने हिन्दुस्तान के दुःख दरिद्रय और आर्थिक शोषण पर बराबर संताप प्रकट किया है। उन्होंनें राजनीतिक और शासन सम्बंधी सुधारों की मांग की है। ऐसा करने में वे सरकारी अकृपा के पात्र भी बने। भारतेन्दु का अनुकरण कर अनेक साहित्यकार लोकजागरण के इस पुनीत कार्य में जुट गये और उन्होंने पत्र-पत्रिकाओं को इसका माध्यम बनाया। इस प्रकार प्रचुर साहित्य का सृजन हुआ।

19वीं शताब्दी के साहित्यकारों का लेखन 1857 के विद्रोह से काफी प्रभावित रहा है। प्रथम राष्ट्रीय विद्रोह की संज्ञा से अभिहित इस विद्रोह में हिन्दू-मुसलमान तथा सिक्खों के बीच साम्प्रदायिक सौहार्द्र, उच्च निम्न जातियों में मेल और आर्थिक-राजनीतिक मुक्ति के तत्व प्रचुर परिणाम में थे। देश भक्त किसानों और शिल्पियों ने अंग्रेजों से कठिन मुठभेड़ किया और ब्रिटिश शासन की जड़ हिलाकर रख दिया निम्न जातियों की भी इस विद्रोह में महती भूमिका थी। इस विद्रोह से भारतीय जनता राजनीतिक रूप से काफी जागृत हो गयी। उन्नीसवीं शताब्दी के सामाजिक धार्मिक सुधार आन्दोलनों की व्याप्ति मुख्यतः शहरों तक सीमित थी तथा शिक्षित मध्यम वर्ग ही इससे प्रभावित था। 1857 के विद्रोह ने नवजागरण को एक नया स्तर प्रदान किया किसानों एवं अन्य ग्रामीण जनता की ओर भी इसका ध्यान आकृष्ट किया। शंभुनाथ के शब्दों में- "1857 के विद्रोह ने नवजागरण को एक नया स्तर प्रदान कर भारतीय इतिहास में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई, क्योंकि भारतीय सन्दर्भ में नवजागरण का अर्थ साम्राज्यवादी आधुनिकीकरण के प्रति सम्मोहन कदापि नहीं हो सकता था। राजा राममोहन राय के साम्राज्यवाद की तरफ झुके एकांगी नवजागरण की वस्तुगत उपलब्धियों को नकारे बिना तथा स्पष्ट सीमाओं को अनदेखा किये बिना 1857 के विद्रोह से देखते ही देखते नवजागरण की एक दूसरी धारा फूटी, जिसका झुकाव साम्राज्यवाद विरोध की ओर था। पहली धारा की भांति इसके मूल सामाजिक आधार में विशिष्ट वर्ग के

लोग नहीं, बल्कि साधरण मध्य वर्ग और किसान वर्ग के लोग थे। इस नई धारा से जुड़ने के लिए भारतेन्दु ने अपने को वर्ग च्युत किया अपनी पैतृक सम्पत्ति क्रमशः फूँककर।"[1]

भारतेन्दु ने ही सर्वप्रथम समग्र नवजागरण या लोकजागरण, की धारा का सूत्रपात किया। 'भारतेन्दु मण्डल' के अन्य साहित्यकारों ने भारतेन्दु का अनुकरण किया। हाँ उनका नव जागरण उतना व्यापक नहीं है जितना कि भारतेन्दु का। भारतेन्दु जी ने 1857 के विद्रोह पर बहुत कम लिखा है कारण "वह अपनी सच्ची राष्ट्रीय भावनाओं के कारण विद्रोह का विरोध नहीं कर सकते थे और खुलेआम समर्थन करना खतरे से खाली न था।"[2] वैसे 1857 की आग को उन्होंने दीर्घ समय तक अपने ह्दय में छिपाकर रखा। भारतीय सिपाहियों की मिस्र- विजय की घटना के सन्दर्भ में भारत के ऐतिहासिक वीरों की गौरवशाली गाथा सुनाते हुए वे 1857 के सिपाहियों की ऐतिहासिक भूमिका रेखांकित करना नहीं भूलते। वे औपनिवेशिक आतंकवाद का नग्न रूप प्रस्तुत करते हुए कहते हैं-

कठिन सिपाही द्रोह-अनल जा जन-बल नासी।
जिन भय सिर न हिलाइ सकत कहुँ भारतवासी।"[3]

यहाँ भारतेन्दु से सिपाही विद्रोह को अनुचित नहीं माना है बल्कि बतलाया है कि यह कितना कठिन काम था। इसके प्रतिरोध में अंग्रेजी सेना ने भारतीयों को इतनी निमर्मता से कुचला कि अब भय से भारतवासी कहीं सिर नहीं उठा सकते। स्पष्ट है कि 1857 के विद्रोह के प्रति उनका दृष्टिकोण कितना क्रान्तिकारी था।

1- भारतेन्दु और भारतीय नवजागरण: संपा0 शंभुनाथ, पृष्ठ 2।

2- भारतेन्दु और भारतीय नवजागरण: संपा0शंभुनाथ, अशोक जोशी, पृष्ठ 22

3- भारतेन्दु समग्र संपा0 हेमन्त शर्मा, पृष्ठ 255

ब्रिटिश सरकार की निरंकुश सत्ता तथा प्रेस पर कठोर प्रतिबंधों के बावजूद भारतेन्दु ने अपने देश की जनता के वास्तविक कष्टों का तथा ब्रिटिश शासन के शोषणकारी स्वरूप का बखूबी अनावरण किया है। यह कैसे सम्भव हुआ? इसको स्पष्ट करते हुए शंभुनाथ जी कहते हैं "भारतेन्दु ऐसे अवसर खोजत रहते थे, जब महारानी विक्टोरिया की उदारता और क्षमता की प्रशंसा की आड़ में साथी भारतवासियों की वास्तविक हालत और ताकत का बखान करें। इनके वर्तमान दुखों, क्षमताओं तथा ऐतिहासिक गौरव चिह्नों को भाव-विह्वल होकर गिनाने का कोई अवसर वह खोते नहीं थे।"[1]

इस प्रकार भारतीय जनता के दुःख दर्द की अभिव्यक्ति करने के क्रम में अनेक स्थानों पर भारतेन्दु को ब्रिटिश सत्ता और महारानी का गुणगान भी करना पड़ा है किन्तु इसे भारतेन्दु की ब्रिटिश सत्ता के प्रति राजभक्ति नहीं समझना चाहिए अपितु यह उनकी मजबूरी थी, यह उनके लिए खोल थी जिसे ओढ़कर ही वे अपने लक्ष्य तक पहुँच सकते थे।

युग-बोध भारतेन्दु युगीन निबंध साहित्य का प्रबल पक्ष है। राजनीतिक चेतना से यह विधा सशक्त रूप से जुड़ी हुई है। परतंत्र देश की राजनीतिक स्थिति अत्यन्त संघर्षमय हो जाती है। इस युग का जागरूक निबंधकार अपने देश की जटिल राजनीतिक परिस्थिति की ओर से अपने नेत्र किस प्रकार बन्द कर सकता था। वह राजनीति के साथ कदम से कदम मिलाकर चला है। तत्कालीन निबंधकारों ने अपने निबंधों के द्वारा जनता की सुप्त भावनाओं को जागृत करने का अथक प्रयास किया है। देश की दयनीय दशा को देखते हुए उन्होंने अपने देश वासियों को एकता का संदेश दिया। सन् 1857 में स्वतंत्रता रूपी चिनगारी जो एक बार सुलगी थी उसे भारतेन्दु युग के निबंधकारों ने अपने निबंधों के द्वारा प्रज्जवलित किया। इनके निबंध पराधीनता की पीड़ा, अंग्रेजी शासन द्वारा शोषण पर आक्रोश, स्वतंत्रता की प्रेरणा, एकता और देशोद्धार

1- भारतेन्दु और भारतीय नवजागरण: संपा0 शंभुनाथ, अशोक जोशी, पृष्ठ-23

की कामना से भरपूर है। भारतेन्दु जी के विषय में डा0 लक्ष्मी सागर वार्ष्णेय ने लिखा है "वे एक ओर तो अवसर मिलने पर राजनीतिक-दृष्टि से जनता की भलाई की मांगे सरकार के सामने पेश करते थे, दूसरी ओर वे जनता को सुधारने और उसको उन्नति के पथ पर अग्रसर करने के लिए सदा प्रयत्नशील रहते थे।"[1] उन्हें ब्रिटिश सरकार की शोषण नीति असह्य थी। अपने निबंधों में उन्होंने ब्रिटिश शासन के वास्तविक स्वरूप का पर्दाफाश किया है। लोकजागरण की दृष्टि से उन्नीसवीं शताब्दी के निबंधकारों ~~भारतेन्दु हरिश्चन्द्र~~ की समीक्षा करना समीचीन होगा।

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र :—

"भारतवर्ष की उन्नति कैसे हो सकती है?" भारतेन्दु जी का एक प्रमुख निबंध है जिसमें भारत के समग्र जागरण के लिए आवश्यक लगभग सभी तत्वों की ओर जनता का ध्यान आकृष्ट किया गया है। वस्तुतत· यह नवम्बर सन् 1884 में बलिया के ददरी मेले में आर्य देशोपकारिणी सभा में भारतेन्दु जी द्वारा दिया गया भाषण है। जो बाद में 'हरिश्चन्द्र चन्द्रिका' में प्रकाशित हुआ।

राष्ट्रीय जागरण की प्रथम परमावश्यक शर्त है जातीय एवं धार्मिक एकता। भारतेन्दु जी देश की दुर्दशा का प्रमुख कारण आपसी फूट एवं धार्मिक विद्वेष को मानते हैं। वे स्पष्ट देख रहे थे कि अंग्रेज 'बॉटो और राज करो' की नीति अपना रहे हैं। तत्कालीन राजनीतिक परिस्थिति पर 'अंधर नगरी' में भारतेन्दु जी ने बहुत ही सटीक व्यंग्य किया है। प्रहसन की एक पात्र 'कुजड़िन' बेर और फूट बेचती हुई कहती है- "ले हिन्दूस्तान का मेवा फूट और बेर।"[2] यही 'फूट और बेर' सदियों से भारतीयों की पराधीनता का प्रमुख कारण रहा है। भारतेन्दु जी का हठ विश्वास था कि बिना इस 'फूट' और 'बेर' को मिटाए किसी भी प्रकार का राष्ट्रीय जागरण सम्भव नहीं

1- आधुनिक हिन्दी साहित्य: डा0 लक्ष्मी सागर वार्ष्णेय, पृष्ठ-268

2- भारतेन्दु समग्र: संपा0 हेमन्त शर्मा, पृष्ठ 53।

है, इसीलिए वे बलिया वाले भाषण में भारतीयों की एकता का आह्वान करते हुए कहते हैं- "भाई हिन्दुओं! तुम भी मतमतान्तर का आग्रह छोड़ो। आपस में प्रेम बढ़ाओ। इस महामंत्र का जप करो। जो हिन्दुस्तान में रहे, चाहे किसी रंग किसी जाति का क्यों न हो, व हिन्दू है। हिन्दू की सहायता करो। बंगाली, मरट्ठा, पंजाबी, मदरासी, वैदिक, जैन, ब्राह्मो, मुसलमान सब एक का हाथ एक पकड़ो।"[1]

इस कथन पर शंभु नाथ जी ने बहुत सटीक टिप्पणी की है - "हिन्दी प्रदेश में राष्ट्रीय एकता की यह पहली उद्घोषणा है, जिसमें साम्राज्यवाद विध्वंस की अति भीषण राजनैतिक वैचारिक शक्ति छिपी है।"[2]

भारतेन्दु जी राष्ट्रीय एकता के इस पावन आह्वान में 'दलितों, पिछडों का स्मरण करना नहीं भूले हैं जिससे स्पष्ट होता है कि लोक जागरण का जो स्वप्न भारतेन्दु जी देख रहे थे वह एकांगी न होकर समग्रतावादी थी जिसकी परिधि शहरों ही नहीं सुदूर गावों तक भी व्याप्त थी-

"यह समय इन झगड़ों का नहीं। हिन्दू, जैन, मुसलमान सब आपस में मिलिए जाति में कोई ऊँच हो या नीचा हो सबका आदर कीजिए, जो जिस योग्य हो उसको वैसा मानिए। छोटी जाति के लोगों को तिरस्कार करके उनका जी मत तोड़िए। सब लोग आपस में मिलिए।"[3]

1- भारतेन्दु समग्र: संपा0 हेमन्त शर्मा, पृष्ठ 1013

2- भारतेन्दु और भारतीय नव जागरण: संपा0 शंभु नाथ, अशोक जोशी, पृष्ठ-43

3- भारतेन्दु समग्र: संपा0 हेमन्त शर्मा, पृष्ठ 1013

19वीं शताब्दी में भारत की आर्थिक स्थिति अत्यन्त दयनीय थी। बार-बार अकाल पड़ता था। जिससे लाखों लोग भूखों मर जाते थे। इस भुखमरी का कारण अंग्रेजों की गलत आर्थिक नीति थी जिसके माध्यम से व भारत का निरन्तर आर्थिक शोषण कर रहे थे। उनकी इन्हीं नीतियों के कारण भारत जो हस्त-शिल्प के मामले में विश्व में सबसे अग्रणी था। 19वीं शताब्दी तक ब्रिटेन की वस्तुओं का आयातक देश बन चुका था। 19वीं शताब्दी तक भारत का हस्त शिल्प उद्योग नष्ट हो चुका था और भारत ब्रिटेन के उद्योग धंधों हेतु कच्चे माल की आपूर्ति करन लगा था। लाखों शिल्पकार बेरोजगार हो गये थे और कृषि पर भार बढ़ गया था। इस प्रकार भारत की कीमत पर ब्रिटेन दिनों-दिन समृद्ध होता जा रहा था और भारत दरिद्रता के दल-दल में फँसता जा रहा था। दादा भाई नौरोजी ने अपनी पुस्तक 'इण्डियन पावर्टी एण्ड अन-ब्रिटिश रूल इन इण्डिया' में इस आर्थिक शोषण का विस्तृत एवं समीचीन विवेचन प्रस्तुत किया है। किन्तु उनसे भी पहले भारतेन्दु जी ने इस आर्थिक शोषण का पर्दाफाश किया था। इसीलिए वे स्वदेशी का आह्वान करते हैं। "हिन्दुस्तानियों से स्वदेशी वस्तु के उपयोग और परदेशी वस्तु के बहिष्कार का आह्वान करने वाले भी प्रथम व्यक्ति भारतेन्दु हरिश्चन्द्र हैं। राष्ट्रीय कांग्रेस ने बहुत बाद में जाकर इस नारे को राजनैतिक संघर्ष का हथियार बनाया, जब महात्मा गाँधी नेतृत्व में आए।"[1] उदाहरण दृष्टव्य है-
"कारीगरी जिसमें तुम्हारे यहाँ बढ़े, तुम्हारा रूपया तुम्हारे ही देश में रहे वह करो। देखो, जैसे हजार धारा होकर गंगा समुद्र में मिली हैं, वैसे ही तुम्हारी लक्ष्मी हजार तरह से इंग्लैण्ड, फरासीस, जर्मनी, अमेरिका को जाती हैं। दीआसलाई जैसी तुच्छ वस्तु भी वहीं से आती है।"[2]

1- भारतेन्दु और भारतीय नवजागरण: संपा0 शंभुनाथ, अशोक जोशी, पृष्ठ 43

2- भारतेन्दु समग्र संपा0 हेमन्त शर्मा, पृष्ठ 1013

भारत जो अभी कुछ सौ वर्ष पहले तक दस्तकारी और हस्तशिल्प में विश्व का सबसे अग्रणी देश था अब अपनी दैनिक आवश्यकताओं की सामान्य वस्तुओं के निर्माण में भी अक्षम हो गया था। भारतेन्दु जी इस पर अत्यन्त दुःख व्यक्त करते हैं। जिनमें उनकी 'स्वदेशी और बहिष्कार' की भावना ही प्रतिबिम्बित होती है -

"हाय अफसोस, तुम ऐसे हो गये कि अपने निज के काम की वस्तु भी नहीं बना सकते। भाइयो, अब तो नींद से चौंको, अपने देश की सब प्रकार उन्नति करो। जिसमें तुम्हारी भलाई हो वैसी ही किताब पढ़ो, वैसे ही खेल खेलो, वैसा ही बातचीत करो। परदेशी वस्तु और परदेशी भाषा का भरोसा मत रखो।"[1]

देश में औद्योगिक प्रगति तभी सम्भव थी जब बच्चों को रोजगार परक शिक्षा दी जाय। जबकि अंग्रेजों की शिक्षानीति का उद्देश्य अपने शासन-कार्य के संचालन हेतु भारतीयों को लिपिक पद हेतु तैयार करना था। भारतेन्दु जी इस शिक्षा नीति के प्रबल विरोधी थे तभी तो वे देशवासियों से यह आह्वान कर सके हैं -

"अच्छी से अच्छी उनको तालीम दो। पिन शिन और वजीफा या नोकरी का भरोसा छोड़ो। लड़कों को रोजगार सिखालाओ। विलायत भेजो। छोटेपन से मिहनत करने की आदत-दिलाओ।"[2]

भारतेन्दु जी अंग्रेजी साम्राज्यवाद के वास्तविक स्वरूप का जो इतना सधा अनावरण कर सके हैं वह उनकी पैनी राष्ट्रीय सामाजिक दृष्टि से ही सम्भव हुआ है। भारतेन्दु जी के प्रयासों से हिन्दी प्रदेश में राजनीतिक नवजागरण की भावना का

1- भारतेन्दु समग्र संपा० हेमन्त शर्मा, पृष्ठ 1013

2- वही, पृष्ठ 1013

न केवल विकास होने लगा था, बल्कि अपने ढाँचे में यह भावना एकांगी न होकर समग्रतावादी थी। भारतेन्दु के क्रान्तिकारी सुधारवाद की परिकल्पना बलिया वाले भाषण में स्पष्ट होती है-

"सुधारना भी ऐसा होना चाहिए कि सब बात में उन्नति हो। धर्म में, घर के काम में, बाहरकेकाम में, रोजगार में, शिष्टाचार में, चाल-चलन में, शरीर के बल में, मन के बल में, समाज में, बालक में, युवा में, वृद्ध में, स्त्री में, पुरुष में, अमीर में, गरीब में, भारत वर्ष की सब अवस्था, सब जाति, सब देश में उन्नति करा।"[1]

राजे-रजवाडे और जमींदार भी भारतीय जनता के शोषण में संलग्न थे। विभिन्न रूपों में ये अंग्रेजों की सहायता कर रहे थे। लगान आदि हेतु भारतीय जनता पर ये बर्बर अत्याचार करते थे किन्तु अंग्रेजों के सामने बिल्कुल दीन-हीन बन जाते थे। अंग्रेजों की जी-हजूरी और खुशामद में वे अपने को कितना हास्यास्पद बना लेते थे इसका बड़ा ही अच्छा चित्र भारतेन्दु ने "दिल्ली दरबार दर्पण" और "लेवी प्राण लेवी' में खींचा है। "लेवी प्राण लेवी' गवर्नर जनरल लार्ड मेयो द्वारा काशी नरेश की कोठी पर की गयी 'लेवी' का वर्णन है। यह एक छोटा-मोटा दरबार था जिसमें काशी के सभी रईस बुलाये गये थे। दरबार पर व्यंग्य करते हुए भारतेन्दु कहते हैं-

"वाह, वाह दर्बार क्या था " कठपुतली का तमाशा" था या बल्लमटेरों का 'कवायद' थी या बन्दरो का नाच था या किसी पाप का फल भुगतना था या "फोजदारी की सजा थी।" बैठने देर न हुई थी कि श्री युत लार्ड साहिब आये फिर सब उठ खड़े हुए।"[2]

1- भारतेन्दु समग्र. संपा0 हेमन्त शर्मा, पृष्ठ 1012

2- वही, पृष्ठ 1030

स्तोत्र-पचरत्न के अन्तर्गत संग्रहीत 'कंकर स्तात्र' बनारस की म्यूनिस पैलिटी पर व्यंग्य है। बरसात में कंकड़ों की करामात पर लिखा गया यह निबंध भारतेन्दु के उत्कृष्ट हास्य का नमूना है। किन्तु भारतेन्दु जैसे सजग साहित्यकार का लक्ष्य केवल हास्य नहीं हो सकता है अपितु उन्होंने हास्य व्यंग्य के माध्यम से अंग्रेजों का वास्तविक स्वरूप जनता के समक्ष उजागर कर जनता को जागृत करने का प्रयास किया है-

"चुंगी ओर पुलिस तुम्हारी दोनों भुजा हैं, अमले तुम्हारे नख हैं, अन्धेर तुम्हारा पृष्ट है और आमदनी तुम्हारा हृदय है अतएव हे अंग्रेज। हम तुमको प्रणाम करते हैं। खजाना तुम्हारा पेट है, लालच तुम्हारी क्षुधा है, सेना तुम्हारा चरण है, खिताब तुम्हारा प्रसाद है, अतएव हे विराट रूप अंग्रेज। हम तुमको प्रणाम करते हैं।"[1]

19वीं शताब्दी में भारत के अधिकांश युवा आधुनिक बनने के लोभ में अंग्रेजों का अंधानुकरण करने लगे। वे पाश्चात्य सभ्यता को नवजागरण का पर्याय मान बैठे। भारतेन्दु जी स्पष्ट देख रहे थे भारत में नवजागरण पश्चिम के अंधानुकरण से नहीं आ सकता क्योंकि अपनी जमीन से कटकर कोई भी आन्दोलन व्यापक नहीं हो सकता। इसीलिए उन्होंने भारतीयों द्वारा पाश्चात्य सभ्यता का अंधानुकरण किये जाने पर जगह-जगह सटीक व्यंग्य किया है-

"हे सौम्य। हम वही करैंगे जो तुमको अभिमत है, हम बूट पतलून पहिरैंगे, नाक पर चश्मा देंगे, कांटा और चिमटे से टिबिल पर खायेंगे, तुम हम पर प्रसन्न हो हम तुमको प्रणाम करते हैं।

हे मिष्ट भाषिण। हम मातृ भाषा त्याग करके तुम्हारी भाषा बोलैंगे।"[2]

1-भारतेन्दु समग्रः संपा0 हेमन्त शर्मा, पृष्ठ 993

2- वही , पृष्ठ 993

उपरोक्त उद्धरणों से यह नहीं समझा जाना चाहिए कि भारतेन्दु आधुनिकता और पश्चिमी विचारों के प्रसार के विरोधी थे। आधुनिकता के मुख्य आधार- मानव विवेक, ज्ञान, वैज्ञानिक दृष्टिकोण एवं मानवतावाद आदि हैं। भारतेन्दु जी इनके प्रबल समर्थक थे। लेकिन ये सभी तत्व किसी समाज या देश विशेष को तभी आधुनिक बना सकते है जब इनका उस समाज के सन्दर्भ में स्वाभाविक रूप से विकास और विवेक पूर्ण उपयोग हो। इसके लिए 'स्वत्व की पहचान' प्रथम परमावश्यक शर्त है। भारतेन्दु जी को 'स्वत्व' की गहरी समझ थी जिसे स्पष्ट करते हुए शंभुनाथ जी कहते हैं-

"भारतेन्दु को अपने जमाने में एक नई चीज का ज्ञान हुआ था- 'स्वत्व' का। 'स्वत्व' 19वीं शदी के नवजागरण की एक मुख्य खोज है। हम साफ देखते हैं कि भारतेन्दु आधुनिकीकरण के समर्थक थे, पर 'स्वत्व' की कीमत पर नहीं। क्योंकि वह उन सुधारवादियों की तरह नहीं थे, जिन्हें समाज सुधार की चकाचौंध में अपने 'स्वत्व' तथा अपनी जाति और देश के औपनिवेशिक आर्थिक शोषण की जरा भी फिक्र नहीं थी। भारतेन्दु के नवजागरण का स्वप्न इंग्लैण्ड के आधुनिक समाज के जनतान्त्रिक जागरण और भारत की गौरवशाली परम्परा के बीच रचनात्मक संवाद का परिणाम है, किसी आत्मविसर्जनवाद परिणाम नहीं।"[1]

भारतेन्दु जी स्पष्ट रूप से देख रहे थे कि भारत में आधुनिकता अंग्रेजी नहीं बल्कि हिन्दी के माध्यम से आ सकती है। हिन्दी के माध्यम से ही लोकजागरण सम्भव होगा तभी देश का समग्र विकास सम्भव हो सकेगा। तभी तो वे कहते हैं-

निज भाषा उन्नति अहै सब उन्नति को मूल।
बिन निज भाषा ज्ञान के कटै न हिय को सूल।"[2]

1- भारतेन्दु और भारतीय नवजागरण: संपा0 शंभुनाथ, अशोक जोशी, पृष्ठ 40

2- भारतेन्दु समग्र संपा0 हेमन्त शर्मा, पृष्ठ 228

इसी भावना को भारतेन्दु जी ने बलिया वाले भाषण में भी व्यक्त किया है-

"परदेशी वस्तु और परदेशी भाषा का भरोसा मत रखो। अपने देश में अपनी भाषा में उन्नति करो।"[1]

ब्रिटिश शासन काल में अंग्रेज जातीय अभिमान से ग्रस्त थे। वे अपने को सभ्य एवं सुसंस्कृत समझते थे और भारतीयों को असभ्य और बर्बर। उनके इस दंभ को ध्वस्त करना आवश्यक था और यह कार्य उस युग में बड़े व्यापक पैमाने पर हो रहा था। लेकिन एक खतरनाक प्रवृत्ति भी काम कर रही थी। वह थी सारे आधुनिक ज्ञान-विज्ञान को भारत के प्राचीन काल पर आरोपित कर देना। स्वयं भारतेन्दु जी इससे सर्वथा अछूते नहीं थे। फिर भी इसमें सन्देह नहीं कि वे इससे सावधान रहने की जरूरत समझते थे। इसलिए उन्हेंने इसका अनेक स्थानों पर उपहास भी किया। अपने प्रसिद्ध निबंध 'स्वर्ग में विचार सभा का अधिवेशन' में भारतेन्दु ने स्वर्ग में स्वामी दयानन्द और केशवनन्द सेन के समर्थन के लिए आहूत सभा में लिबरलों से यह कहलवाया है कि दयानन्द ने "वेद में रेल, तार, कमेटी, कचहरी दिखाकर आर्यो की कटती नाक बचा ली।"[2] लेकिन इन दोनों लोगों के कार्यो पर रिपोर्ट करने के लिए परमेश्वर ने जो 'सिलेक्ट कमेटी' नियुक्त की उसने दयानन्द के बारे में रिपोर्ट में यह लिखा कि उन्होंने "भाष्य में भी रेल, तार आदि कई अर्थे जबरदस्ती किए। इसी से संस्कृत विद्या को भलीभाँति न जानने वाले ही प्राय· इनके अनुयायी हुए। जाल को छुरी से न काटकर दूसरे जाल ही से जिसको काटना चाहा, इसी से दोनों आपस में उलझ गये और परिणाम गृह-विच्छेद उत्पन्न हुआ।"[3] निबन्ध से स्पष्ट है कि भारतेन्दु सिलेक्ट कमेटी की राय से सहमत थे। उनका स्पष्ट मत था हमें अपने अतीत पर गर्व तो करना चाहिए

1- भारतेन्दु समग्र. संपा0 हेमन्त शर्मा, पृष्ठ 1013

2- वही, पृष्ठ 984

3- वही, पृष्ठ 985

किन्तु वर्तमान की सभी समस्याओं का समाधान अतीत की पृष्ठभूमि में खोजना न तो देश के हित में है और न ही तर्कसंगत। इसी दृष्टि से सच्चा लोक जागरण हो सकता है।

उपरोक्त निबन्धों के अतिरिक्त 'कवि-वचन-सुधा' में कुछ महत्वपूर्ण सम्पादकीय नोट भी प्रकाशित होते रहते थे जिनमें भारतेन्दु जी के देश भक्ति, भाषा भक्ति तथा तात्कालिक भारत की आर्थिक दशा के सन्दर्भ में उनकी चिंता पर प्रकाश पड़ता है। अतः कुछ महत्वपूर्ण सम्पादकीय नोटों पर दृष्टिपात करना समीचीन होगा।

'कविवचन सुधा' के 22 दिसम्बर 1873 के अक में देश की आर्थिक स्थिति के सन्दर्भ में महत्वपूर्ण टिप्पणी की है- "चाहे कैसे भी द्रव्य एकत्र किया हो अन्त में सब जायेगा विलायत में क्योंकि हमारी शोभा की सभी वस्तुएँ वहाॅ से आवैंगी, कपड़ा, झाड़ फानूस, खिलौने, कागज और पुस्तक इत्यादि सब वस्तु विलायत से आवेंगी उसके बदले यहाॅ से द्रव्य जायेगा। तो परिणाम यह होगा कि चाहे किसी उपाय से द्रव्य लो अन्त में तुम्हारे देश से निकल जायेगा।"[1]

भारत के आर्थिक शोषण पर कितनी सजग टिप्पणी है। अंग्रेजी हुकूमत की परवाह न करते हुए राष्ट्रभक्ति से ओत-प्रोत इस प्रकार के मन्तव्यों का प्रकाशन भारतेन्दु जैसे युगद्रष्टा मनीषियों के ही बश की बात थी। भारतेन्दु जी ब्रिटिश शिक्षा नीति की बुराइयों को स्पष्ट देख रहे थे ओर इसे भारत की आर्थिक विपन्नता का प्रमुख कारण मानते थे। देशवासियों को सावधान करते हुए वे 16/02/1874 को 'कविवचन सुधा' के अंक में लिखते हैं- "तो हे देश वासियों तुम भी इस निद्रा से चौको। इनके न्याय के भरोसे मत फूले रहो। ये विद्या कुछ काम न आवैगी यदि तुम हाथ के व्यापार सीखोगे तो तुम्हें कभी दैन्य न होगा नहीं तो अन्त में यहाॅ का सब धन विलायत चला जायेगा तुम मुॅह बाये रह जाओगे।[2]

1- भारतेन्दु समग्र: संपा0 हेमन्त शर्मा, पृष्ठ 1020

2- वही, पृष्ठ 1090

भारतेन्दु जी के लिए स्वदेशी एक विचार नहीं अपितु एक नवीन दर्शन था। भारत की अनेक समस्याओं का समाधान उन्हें स्वदेशी वस्तुओं के व्यवहार एवं विदेशी वस्तुओं के बहिष्कार में स्पष्ट दिखाई दे रहा था तभी तो उन्होंने 'कविवचन सुधा' के 23/03/1874 के अंक में 'स्वदेशी' की शपथ लेने का आह्वान किया था-

"हम लोग सर्वान्तर्यामी सब स्थल में वर्तमान सर्वद्रष्टा और नित्य सत्य परमेश्वर को साक्षी देकर यह नियम मानते हैं और लिखते हैं कि हम लोग आज के दिन से कोई विलायती कपडा नहीं पहिनेंगे और जो कपड़ा कि पहले से मोल ले चुके हैं और आज की मिली तक हमारे पास है उनको तो जीर्ण हो जाने तक काम में लावैंगे पर नवीन को न लेकर किसी भाँति का भी विलायती कपड़ा न पहिरेंगे।"[1]

भारतेन्दु जी अपने युग के सजग प्रहरी थे। उनका भावुक ह्रदय देश का सामाजिक, धार्मिक, राजनीतिक और आर्थिक ह्रास देखकर तिलमिला उठता था। 19वीं शताब्दी में अनेकों भीषण अकाल पड़ते थे और इन अकालों में लाखों देशवासियों की मृत्यु होती थी। भारतेन्दु जी स्पष्ट देख रहे थे कि ये अकाल अंग्रेजों की गलत आर्थिक नीतियों के परिणाम हैं-

"बंगाल में दुर्भिक्ष क्या है केवल अनीति के बीज का फल है क्या कारण हे कि दिन दिन मंहगायी बढ़ती जाती है और अन्न गत वर्ष में 12 सेर का विकता था सो इस वर्ष में 8 सेर बिकने लगा विचार करो कि बीस वर्ष बाद के पूर्व अन्य 40 सेर का बिकता था अब उनका पंच मांश क्यों हो गया?"[2]

1- भारतेन्दु समग्र: संपा0 हेमन्त शर्मा, पृष्ठ 109।

2- वही, पृष्ठ 109।

भारतेन्दु जी की मान्यता है कि नारी जाति के उद्बोधन के बिना राष्ट्र का विकास सम्भव नहीं । नारी जाति के उद्बोधन क लिए वे जीवन भर प्रयासरत रहे। उन्होंने स्त्रियों के कल्याण हेतु "बाला बोधिनी" नामक पत्रिका का प्रकाशन प्रारम्भ किया। भारतेन्दु भारत वर्ष की उन्नति का अर्थ साधारण लोगों की उन्नति लगाते थे। इसलिए उनके सुधारवाद में गरीबों के जीवन में सुधार पर विशेष बल था। सुधार के विचारों को जातीय लोकगीत- संगीत के माध्यम से प्रचालित करने का प्रस्ताव उपस्थित करते हुए उन्होंने लिखा था-

"जो बात साधारण लोगों में फैलेगी वह सार्वदेशिक होगी और यह भी विदित है कि जितना ग्राम गीत शीघ्र फैलते हैं और जितना काव्य को संगीत द्वारा सुनकर चित्त पर प्रभाव होता है, उतना साधारण शिक्षण से नहीं होता। इससे साधारण लोगों के चित्त पर भी इन बातों का अंकुर जमाने को, इस प्रकार जो संगीत फैलाया जाय तो बहुत कुछ संस्कार बदल जाने की आशा है।"[1]

उपरोक्त विवेचन से स्पष्ट है कि भारतेन्दु जी का नवजागरण 19वीं शताब्दी के धार्मिक, सामाजिक सुधार आन्दोलनों की तरह एकांगी नहीं है उसमें भारतीय जनता के समग्र जागरण की चेतना विद्यमान है, वह सही अर्थो में लोक जागरण है। इसे स्पष्ट करते हुए डा0 परमानन्द श्रीवास्तव लिखते हैं- "भारतेन्दु एक साथ सहज भारतीय और सचेत आधुनिक रचनात्मकता से सम्पन्न दिखाई देते हैं। इस बात को ठीक-ठीक समझने की जरूरत है कि भारतेन्दु सांस्कृतिक सुधारवादी पुनरुत्थान आन्दोलन के अनुयायी भर नहीं थे, वे एक नये प्रकार के ठेठ देशी लोक जागरण की नींव रख रहे थे।"[2]

1- भारतेन्दु समग्र पृष्ठ 1028

2- भारतेन्दु और भारतीय नवजागरण: संपा0 शम्भु नाथ, अशोक जोशी, पृष्ठ-170

प्रताप नारायण मिश्र:

प्रताप नारायण मिश्र आधुनिक हिन्दी के विधायक लेखकों में हैं। भारतेन्दु युग के लेखकों में उनका व्यक्तित्व अद्‌भुत है। जैसा उनका व्यक्तित्व है वैसा ही बहुरंगी और प्रकाशवान उनका साहित्य भी है। ये भारतेन्दु जी के निकट सहयोगी थे। जीवन के सभी क्षेत्रों- सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक, राजनीतिक- में परिवर्तन और सुधार की जो अलख भारतेन्दु जी ने जगाया मिश्र जी ने अपने लेखन से उसे परिवर्द्धित किया। **'ब्राह्मण'** नामक पत्रिका का सम्पादन करते हुए मिश्र जी ने उपरोक्त सभी विषयों पर एक सच्चे राष्ट्रभक्त के रूप में जमकर लिखा और जन जागरण का संदेश दिया। मिश्र जी के प्रमुख निबंधों की लोक जागरण की दृष्टि से विवेचना समीचीन होगी।

राष्ट्रीय स्तर पर लोक जागरण तभी सम्भव है जब देश के विभिन्न जातियों धर्मावलम्बियों के आपसी विश्वास एवं सहयोग हो। साम्प्रदायिकता लोक जागरण के मार्ग में सबसे बड़ी बाधा है। 'देशोन्नति' नामक निबंध में मिश्र जी ने पारस्परिक सौहार्द एवं सहयोग को लोकजागरण एवं देशोन्नति का मूल मंत्र माना है। यद्यपि उन्होंने शिक्षा, विदेशयात्रा, यंत्र निर्माण, बाल विवाह निषेध एवं विधवा विवाह को बढ़ावा आदि को भी देशोन्नति के आवश्यक अंग के रूप में स्वीकार किया है किन्तु उनके अनुसार जब तक देशवासियों में आपसी प्रेम, विश्वास एवं सहयोग नहीं होगा तब तक उपरोक्त सभी साधन व्यर्थ ही सिद्ध होंगे।

"वह अभ्युदय कब होगा? तभी न जब पंडित महाराज की विद्या, ठाकुर साहब का बल, लाला जी के रूपये, महतो भाई के हाथ पाँव परस्पर एक दूसरे के कार्य साधन करेंगे? चारों एकत्रित कब होंगे? जब सबके अन्त:करण प्रेम से पूर्ण हो जायेंगे।"[1]

1- प्रताप नारायण ग्रन्थावली: संपा0 विजयशंकर मल्ल, पृष्ठ 20

साम्प्रदायिकता राष्ट्र की उन्नति में सबसे बड़ी बाधा है। साम्प्रदायिकता से राष्ट्रीय एकता का क्षरण होता है, राष्ट्र की एकता और अखण्डता को गम्भीर खतरा उत्पन्न हो जाता है। अमन-चैन खंडित होने से देश की प्रगति बाधित होती है। यह तथ्य जितना मिश्र जी के समय के लिए सत्य था उतना ही आज भी। तभी तो उन्होंने साम्प्रदायिकता की निन्दा करते हुए कहा था-

"महाशय, देशोन्नति का बड़ा भारी बाधक तो मत ही है। जब तक उसका भ्रमजाल लगा है तब तक सुख स्वरूप प्रेम देव से भेंट कहाँ? किसी मत का अगुवा कब चाहेगा कि मेरे अतिरिक्त दूसरे की बात जमे।"[1]

मिश्र जी स्पष्ट देख रहे थे कि भारतीयों की आपसी 'फूट एवं वैर' उनकी दुर्गति का प्रमुख कारण था। तत्कालीन भारतीय समाज अंग्रेजों के अत्याचार से पीड़ित था। अंग्रेज भारतीय को असभ्य एवं बर्बर समझते थे और उनके धर्म एवं संस्कृति की खुलेआम उपहास किया करते थे। सार्वजनिक स्थलों पर अंग्रेज हमेशा भारतीयों का अपमान करते रहते थे। अंग्रेजों द्वारा भारतीय स्त्रियों के साथ बलात्कार एवं मजदूरों की पिटाई आम बात थी जिसके लिए उन्हें बहुत ही कम दण्ड दिया जाता था। मिश्र जी भारतीयों की इस दुर्दशा का कारण उनकी आपसी फूट एवं बैर को मानते हैं तथा भारतीयों की दशा में सुधार हेतु पारस्परिक स्नेह, सहयोग एवं देश भक्ति की भावना के विकास हेतु कुछ ठोस पहल की कामना करते हैं-

"जब तक हम अपनी निर्बलता का निराकरण न करेंगे हम निरे पशु समझे जायेंगे। हम एक महा दुर्बल पशु समझे जायेंगे। यदि हम अपना पशुत्व दूर किया चाहें तो केवल सभाओं में लेकचर देना या अखबारों में लम्बे-लम्बे लेख देना, सरकार से दुःख रोना मात्र लाभ जनक न होगा। इसके लिए तो आँखें मींचकर , आगा पीछा कुछ न

1- प्रताप नारायण ग्रन्थावली: संपा0 विजयशंकर मल्ल, पृष्ठ 21

सोचकर, जैसे हो वैसे, भ्रातृस्नेहबर्धन में जुट जाना चाहिए। नहीं तो कोरी बातों से कभी कुछ न होगा। हमारी वेकल्पिक का महन्तम कारण केवल देश भक्ति का अभाव है।"[1]

ब्रिटिश साम्राज्य के शोषण से भारतीय अर्थ व्यवस्था चौपट हो गयी थी। चारों ओर गरीबी एवं भुखमरी का बोलबाला था। इन परिस्थितियों में बाढ़ अथवा सूखे के कारण प्राय: अकाल पड़ते रहते थे। जिनमें राहत कार्यो एवं सरकारी सहायता के अभाव के कारण लाखों व्यक्तियों की भूख से मृत्यु हो जाती थी। अर्थ व्यवस्था को सुदृढ़ किये बिना इनसे निजात पाना असम्भव हो गया था। अर्थ व्यवस्था को सुदृढ़ करने की कामना से मिश्र जी ने स्वदेशी उद्योगों को प्रोत्साहन देने और स्वदेशी वस्तुओं को प्रयोग करने पर बल दिया- 'देशी कपड़ा' शीर्षक निबन्ध में वे कहते हैं-

"आखिर कपड़ा पहिनो ही गे, एक वेर हमारे कहने से एक-एक जोड़ा देशी कपड़ा बनवा डालो, यदि कुछ सुभीता देख पड़े तो मानना, दाम कुछ दूने न लगेंगे, चलेगा तीन गुने से अधिक समय। देशी लक्ष्मी और देशी शिल्प के उद्वार का फल सेंत मेंत।"[1]

मिश्र जी स्वदेशी का मौखिक समर्थन करने वालों से सख्त घृणा करते थे। ऐसे लोग स्वदेशी का प्रचार-प्रसार दिखावे के लिए करते थे किन्तु व्यवहार में विदेशी वस्तुओं का प्रयोग धड़ल्ले से करते थे। इन लोगों पर व्यंग्य करते हुए मिश्र जी कहते हैं-

"देश की दरिद्रता और उद्धार के विषय में लेक्चर देते समय तो आप श्रोताओं के कान की चौली उड़ा देते हैं और लेख ऐसे लिखते हैं कि छापने के समय कम्पोजीटर नाकों आ जॉय पर अपने शरीर को सिर से पैर तक विलायती ही वस्त्र शस्त्र में मढ़े

---

1 - प्रतापनारायण मिश्र ग्रन्थावली: संपा0 विजय शंकर मल्ल, पृष्ठ 88

"मुसलमानों ने सात सौ बरस राज्य किया, उसमें भी बाजे-बाजे बादशाहों ने हजारों आदमी मार डाले, सैकड़ों नगर लूट लिए, तो भी अन्न वस्त्र सबको मिली रहता था। पर इस सुराज्य में सो ही बरस के बीच यह दशा हो गयी है कि देश भर में चौथाई से अधिक जन केवल एक बेर खा पाते हैं सो भी पेट भर नहीं।"[1]

मिश्र जी भारत के स्वर्णिम अतीत को याद करते हैं। उस समय भारत हस्तशिल्प में विश्व में अग्रणी था। रोजगार की कोई कमी नहीं थी। जनता सुखी एवं समृद्ध थी किन्तु अंग्रेजों के शोषण के कारण आज स्थिति पूरी तरह बदल गयी है। लाखों लोग बेरोजगार हैं और अतीत की समृद्धि का स्थान आर्थिक विपन्नता ने ले लिया है परिणामत: शहरों का निरन्तर पतन हो रहा है। 'समय का फेर' निबंध में वे कहते हैं। "रूजगार की यह गति थी कि हमारी देखी हुई बात है, लखनऊ फर्रुखाबाद, मिरजापुर आदि में कंचन बरसता था। पर हाय आज धूल उड़ती है, और राम न करे यही हाल कुछ दिन और रहा तो यह शहर के नाम से पुकारे जाने योग्य न रहेंगे क्योंकि स्त्री का पति है पुरूष और पुरुष का पति है रूजगार।"[2]

मिश्र जी भारत की आर्थिक विपन्नता से बहुत दुखी थे उनका दृढ़ विश्वास था कि केवल भाषणों और उपदेशों से लोगों की आर्थिक उन्नति सम्भव नहीं है, उसके लिए कुछ ठोस उपाय करने होंगे। लोगों को रोजगार उपलब्ध कराना ऐसा ही एक ठोस उपाय है। जिसके लिए मिश्र जी एक उत्तम सुझाव देते हैं-

"एक सन्दूक रखी रहे, उसमें चाहे तो कोई महाराजाधिराज एक पैसा छोड़ दें, चाहे कोई भिक्षुक लाख रूपये की कोई चीज डाल दे। पर नियत साप्ताहिक, मासिक, वार्षिक, जैसा समझौता हो अवलम्ब करना चाहिए। फिर नियत समय पर दस जानकार

1- प्रताप नारायण ग्रन्थावली: संपा0 विजयशंकर मल्ल, पृष्ठ 188

2- वही, पृष्ठ 187

लोगों की सन्मति से वह आमदनी किसी रोजगार ˆ लगती रहना चाहिए।"[1]

अंग्रेजों के आर्थिक शोषण के कारण भारत का हस्तशिल्प उद्योग नष्ट हो गया था। जिनसे कृषि पर भार बढ़ गया था। ओर ब्रिटिश शिक्षा नीति के अन्तर्गत भारतीय युवकों को 'लिपिक' के कार्य हेतु शिक्षित किया जाता था, उन्हें किसी प्रकार की रोजगार परक शिक्षा नहीं दी जाती थी। भारत के औद्योगिक पतन के लिए मिश्र जी इस शिक्षा को भी दोषी मानते हैं और रोजगार परक शिक्षा पर बल देते हैं-

"वरंच देश का बड़ा हित इसी में है कि सैकड़ों तरह का काम सीखो।सरटीफिकेट लिए बंगलें-बंगले मारे-मारे फिरने में क्या धरा है जो सरकार को हर साल इम्तिहान अधिक कठिन करने की चिंता में फँसाते हो। बाबूगिरी कोई स्वर्णगीरी (सोने का पहाड़) नहीं है।"[2]

इसी प्रकार मिश्र जी भारत के व्यापार घाटे को पूरा करने हेतु शिल्प और व्यापार में वृद्धि करने का सुझाव देते हैं-

"इन दिनों जितने लोग हमारे देशी भाइयों को यह उपदेश करते हैं कि देश में धन नहीं रहा, उस की वृद्धि का उपाय करना चाहिए और व्यर्थ न उठने देना चाहिए, उनके हम विरोधी नहीं हैं क्योंकि प्रत्यक्ष देखते हैं कि नाना भाँति के कर और निस्सार पदार्थो के द्वारा हमारा सारा रूपया दिन दिन विदेश को लदा जाता है जब तक हम सब बकवासें छोड़ के अपने शिल्प और व्यापार की वृद्धि में तत्पर न होंगे इस घटी को पूरा नहीं कर सकते।"[3]

1- प्रताप नारायण ग्रन्थावली· पृष्ठ 27

2- प्रताप नारायण ग्रन्थावली: संपा0 विजयशंकर मल्ल, पृष्ठ 92

3- वही: पृष्ठ 413

मिश्र जी देश का चौमुखी विकास चाहते थे। वे देख रहे थे कि भारत के आर्थिक पिछड़ेपन का कारण कृषि शिक्षा का अभाव, समुद्र यात्रा निषेध, शिल्पशास्त्र के व्यावहारिक प्रशिक्षण का अभाव आदि भारत के आर्थिक पिछड़ेपन के प्रमुख कारण हैं। अपनी पत्रिका 'ब्राह्मण' के दूसरे वर्ष में प्रवेश करने पर पाठकों के प्रति कृतज्ञता-ज्ञापन करते हुए उन्हें देश की आर्थिक प्रगति हेतु सचेत करते हैं-

"परमेश्वर करे तुम्हारे दूध पूत अन्न धन किसी बात की न्यूनता न रहे। पर निरी हमारी बातों ही में न आ जाना। दूध के लिए गोबध निवारण, पूत के लिए बाल्य विवाह दूरीकरण, अन्न के लिए कृषि विद्या की उन्नति, धन के लिए समुद्र जात्रा एवं शिल्पशास्त्राभ्यास भी करना पड़ेगा।"[1]

मिश्र जी ने यातायात के सुगम साधनों, सिंचाई की सुविधाओं, शिक्षा-प्रसार आदि अलभ्य लाभ प्रदान करने के लिए ब्रिटिश शासन की प्रशंसा की है, किन्तु इसके साथ ही वे यह भी नहीं भूल सके हैं कि सामान्य जनता और किसानों की दरिद्रता घटने के स्थान पर बढ़ती गयी है। इसीलिए पाश्चात्य सभ्यता के सम्पर्क में देश के सांस्कृतिक पुनरुत्थान की आवश्यकता का अनुभव करते हुए भी इन्होंने शासक वर्ग द्वारा देश के आर्थिक शोषण का विरोध किया है- मिश्र जी का दृढ विश्वास है कि जब जनता का एक बड़ा वर्ग अपनी क्षुधा शान्त करने में ही असमर्थ है तो उससे किसी प्रकार के आन्दोलन की अपेक्षा करना बेमानी है- "भला जिस देश में करोड़ों लोग रूखी रोटी को तरसते हैं, करोड़ों कृषि, वाणिज्य , शिल्प आदि के द्वारा जो कुछ कमाते हैं उसका सार भाग टिक्कस, व्यापार चंदा आदि की राह विलायत चला जाता है, जहाँ दुःखी लोगों को दुहाई देने के लिए भी रूपया लगाना पड़ता सो भी न्याय ऐसा कस्तूरी के भाव बिकता है कि बहुधा रूपये वाले ही पाते हैं, वहाँ सबको पेट पालने और येन

1- प्रताप नारायण मिश्र ग्रन्थावली: संपा0 विजयशंकर मल्ल, पृष्ठ-34

केन विधिना निर्वाह करने की चिंता चाहिए कि सत्यासत्य की?"[1]

मिश्र जी का दृढ विश्वास था कि लोक जागरण लोक भाषाओं के द्वारा ही सम्भव है। भारत में सामाजिक सांस्कृतिक जागरण पाश्चात्य सभ्यता और अंग्रेजी भाषा के अंधानुकरण से सम्भव नहीं है अपितु वह हिन्दी और अन्य प्रादेशिक भाषाओं के माध्यम से ही सम्भव है। हिन्दी भाषा की दुर्दशा को देखकर उनका भावुक हृदय कराह उठता है-

"जिस संस्कृत में आज भी वह-वह बातें विद्यमान हैं जो दूसरी भाषाओं को सेकड़ों वर्ष मिलनी कठिन हैं, जिस हिन्दी के बिना हिन्दू जाति का गौरव हो नहीं सकता उसकी यह दशा और देश भाइयों की उसके विषय में यह उपेक्षा तथा गवर्नमेंट की ऐसी क्रूर दृष्टि देख के किस परिणामदर्शी को भविष्यत् के लिए दुर्दैव की एक अकथनीय कुराल मूर्ति न देख पड़ती होगी।"[2]

हिन्दी भाषा की उन्नति एवं प्रचार-प्रसार हेतु वे देशवासियों का आह्वान करते हुए कहते हैं-

"यह प्रण कर लीजिए कि चाहे जैसी हानि हो, चाहे जो कष्ट हो कुछ चिन्ता नहीं। सर्वस्व जाता रहे, अभी मृत्यु हो जाय, मरने पर भी कठिन नर्क जातना अनन्त काल तक सहनी पड़े पर अपने हिन्द और अपनी हिन्दी से 'हम यह दो बात कहके हारे हैं। तुम हमारे हैं।।' बस फिर प्रत्यक्ष देख लीजिए कि कितने शीघ्र अथच कैसी कुछ उन्नति आँखों के आगे दिखाई देती है।"[3]

1- प्रताप नारायण ग्रन्थावली· संपा0 विजयशंकर मल्ल, पृष्ठ-260

2- वही, पृष्ठ 279

3- वही, पृष्ठ 336

मिश्र जी नागरी लिपि के महत्व और उसके जनाधार को भलीभाँति समझते थे। उल्लेख्य है कि फारसी सेकड़ों साल तक इस देश की राजभाषा के रूप में विद्यमान थी, तथापि नागरी लिपि का सर्वथा लोप न हो सका। राजाज्ञा अथवा राजकीय प्रयास के बल पर फारसी भले ही राजभाषा क्यों न बनी रही हो- उसका प्रचार-प्रसार फिर भी सीमित ही रहा। जनता के बीच न तो वह लोकप्रिय हुई और न ही जनता का उसे व्यापक समर्थन ही प्राप्त हो सका। जनता की लिपि तो नागरी लिपि ही थी। इसीलिए शिक्षा कमीशन द्वारा नागरी का तिरस्कार कर देने पर मिश्र जी नागरी लिपि के प्रचार-प्रसार हेतु देशवासियों से निवेदन करते हैं-

"शिक्षा कमीशन ने देवनागरी का तिरस्कार कर दिया। कुछ परवा नहीं। ..... फिर सही दे मेमोरियल पर मेमोरियल, दे लेख पर लेख, दे चंदा पर चंदा। देखें तो सरकार कहाँ तक न सुनेगी। और सरकार न भी सुने जब देश हितैशी महाशय सेतुआ बाँध के पीछे पड़ जायेंगे, नगर-नगर , जन-जन में नागरी देवी का जस फेला देंगे, आप ही स्वदेश भाषा की उन्नति हो रहेगी। आप ही उरदू बीबी के नखरे सबको तुच्छ जँचने लगेंगे।"[1]

ब्रिटिश शासन के वास्तविक स्वरूप का ज्ञान प्रताप नारायण मिश्र को काँग्रेस की स्थापना से पहले ही हो गया था। जहाँ प्रारम्भिक चरण (1885-1905ई0) के कांग्रेसी नेता ब्रिटिश शासन को ईश्वर का वरदान समझते थे, तथा मानते थे कि अंग्रेज बहुत ही न्याय प्रिय हैं और भारत का विकास उनके द्वारा ही सम्भव है, वहीं मिश्र जी को पूरा विश्वास हो चुका था कि अंग्रेजों का उद्देश्य भारत का शोषण है न कि भारत का कल्याण-

"इससे हमें अंग्रेजों के अत्याचार से रोना न चाहिए और यह आशा भी न रखना चाहिए कि यह हमारी भलाई करने आए हैं। एलबर्ट बिल, शिक्षा कमीशन

1- प्रताप नारायण ग्रन्थावली: संपा0 विजय शंकर मल्ल, पृष्ठ-336

बैंकस साहब का मुकदमा, सब इसी बात के उदाहरण हैं कि "सबै सहायक सबल के" इत्यादि।"[1]

मिश्र जी एक सजग पत्रकार के रूप में अपने समय की राजनीतिक घटनाओं पर पैनी नजर रखते थे। वे राजनीतिक क्रिया-कलापों का विश्लेषण कर जनता पर पड़ने वाले प्रभावों को उजागर कर जन-सामान्य को अपने अधिकारों के प्रति सजग करते थे। इलबर्ट विल एक ऐसी ही राजनीतिक घटना थी जिसने भारतीय जन-मानस को बहुत दूर तक प्रभावित किया। इल्बर्ट बिल पर अपने विचार व्यक्त करते हुए वे कहते हैं- "उन्हें अंगरेज अपराधियों का इतना पक्षपात कि हिन्दुस्तानी हाकिम, बिना यूरोपियों की पंचायत बैठे, उनका न्याय ही न कर सकें। क्यों न हो "घर का परसैया अंधेरीरात"। क्या हम किसी दूसरे के प्रजा हैं? हमें भी सरकार से निवेदन पर निवेदन इस बात के लिए करना चाहिए कि हमारे मुकदमें अंगरेज हाकिम बिना स्वदेशियों की पंचायत के न कर सकें। एक बार नहीं सौ बार एक प्रकार नहीं सहस्र प्रकार, सरकार को समझावै कि हमारा भी कुछ हक है।"[2]

मिश्र जी की राजनीतिक सजगता का एक और उदाहरण भारतेन्दु जी को लेजिस्लेटिव कौंसिल का मेम्बर बनाये जाने की अपील में दृष्टिगोचर होता है-

"आज कल राजा शिव प्रसाद सी0एस0आई0 भारत व्यवस्थापक सभादल छोड़ने वाले हैं। उनके स्थान पर यदि कोई खुशामदी टट्टू बिठा दिया गया तो फिर मानों भारत वर्ष डूबा कुंए में, गरचि भँवर से निकल गया। अतएव हमारे देशानुरागियों का परम धर्म है कि किसी सज्जन धार्मिक भारत-भक्त को लेजिस्लेटिव कौंसिल का मेम्बर नियत करने के लिए सरकार से निवेदन करें और पूर्ण विश्वास है कि महात्मा

1- प्रताप नारायण ग्रन्थावली: पृष्ठ 48

2- प्रताप नारायण ग्रन्थावली: पृष्ठ 32

लार्ड रिपन ऐसे निवेदन को अवश्य सुनेंगे। अपने सहयोगी 'उचित वक्ता' को सम्मतिपूर्वक हम एक बार लिख चुके हैं और अब भी अवसर है इससे फिर चिताए देते हैं कि हिन्दुसतान का एक मात्र निष्कपट हितैषी श्रीयुत भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के समान 'न भूतो न भविष्यति'। यदि वे कौंसिल में विराजमान हुए तो देश के अहो भाग्य।।।"[1]

मिश्र जी भारतीय कांग्रेस की स्थापना के समय से ही उससे गहराई से जुड़े हुए थे। कांग्रेस के वार्षिक अधिवेशनों में भाग लेते थे। उनका दृढ़ विश्वास था कि कांग्रेस के नेतृत्व में देश, जाति और भाषा का हित हो सकेगा तभी तो वे कांग्रेस के अधिवेशनों में भारी संख्या में देशवासियों से भाग लेने की अपील करते हैं-

"अत: अपने रसिकों को केवल इतनी सम्मति देते हैं कि जैसे बने वैसे अपने देश, जाति, भाषा आदि के हित में नित्य दत्त चित्त रहा करें तथा दिन रात एतद्विषयक सभा कमेटियों में उत्साह के साथ नृत्य करने को तत्पर रहें। नेशनल कांग्रेस ऐसी समाजों की ताज है और सत्य के प्रताप से प्रतिवर्ष उसकी वृद्धि होती रहती है। इसका अधिवेशन अब की साल बम्बई में होगा। अतएव सब देशहित के तत्ववेत्ताओं को चाहिए कि अभी से उसकी चिंता में लगे रहें जिसमें समय पर हर ओर से डेलीगेटों का ताता बँध जाय।"[2]

लोकजागरण का एक सशक्त माध्यम है पत्रकारिता। पत्रकार अपने समय की सामाजिक, धार्मिक, राजनीतिक स्थितियों का चित्रण-विश्लेषण कर जीवन को सुखमय बनाने का प्रयास करता है। राष्ट्रीय चेतना के प्रसार में पत्र-पत्रिकाओं की महती भूमिका रही है। इसीलिए अंग्रेजी सरकार निरन्त प्रेस पर पाबन्दियाँ एवं आर्थिक दण्ड लगाती रहती थी, इसका विरोध करते हुए मिश्र जी कहते हैं - " जबकि हमारे छोटे से पत्र की केवल चार वर्ष में यह गति है तो हमारे मान्यवर 'हिन्दी-प्रदीप' का हाल

1- प्रताप नारायण ग्रन्थावली: पृष्ठ 33

2- वही, पृष्ठ 202

समझते हैं, हमसे भी बुरा होगा। ब्रह्मण से दूना उसका आकार है, चौगुनी उसकी आयु है, उसके सम्पादक श्री बालकृष्ण भट्ट है, वह हमसे भी गयी बीती दशा में ठहरे। .... ऐसी हालत में सरकार ने 10/- रू0 टैक्स के लैलिए। हम क्यों न कहैं- "मरे को मारैं शाह मदार।" कुछ विचारे कौन धंधा करते हैं जो उन पर टिक्कस। दस रूपये में क्या सर्कार का खजाना भर गया।"[1]

ऐसी परिस्थिति में जन सहयोग से ही पत्र-पत्रिकायें दीर्घायु हो सकती थीं। किन्तु जनता में राजनीतिक जागरूकता लगभग शून्य थी। वह पत्र-पत्रिकाओं का महत्व समझने में असमर्थ थी इसी कारण वह इनके समर्थन में खुलकर आगे नहीं आ रही थी। इस पर चिन्ता व्यक्त करते हुए मिश्र जी कहते हैं-

"क्या भारत भूमि इतनी निर्जीव हो गयी कि उसके बीस कोटि संतान में से हरिश्चन्द्र कला के लिए दो तीन सौ मनुष्य भी वर्ष में 6 रू0 न दे सकें।"[2]

उन्नीसवीं शताब्दी के सामाजिक-धार्मिक सुधार आन्दोलनों को अनेक विद्वानों ने एकांगी कहा है क्योंकि इनकी व्याप्ति शहरी मध्यवर्ग तक सीमित थी। देश की जनसंख्या का एक बहुत बड़ा भाग गाँवों में रहता था। गांवों में इन आन्दोलनों का प्रभाव लगभग शून्य था। भारतेन्दु मण्डल के लगभग सभी साहित्यकार इन ग्रामवासियों को लेकर चिन्तित रहते थे और वे इन ग्रामवासियों की दशा में आमूल-चूल परिवर्तन चाहते थे। इसी बात पर बल देते हुए "ग्रामों के साथ हमारा कर्तव्य" नामक निबंध में मिश्र जी कहते हैं-

"शहर में आप सौ समाचार पत्र निकालिए, सहस्र समाजें स्थापित कीजिए, लाख पुस्तकें प्रचारित कीजिए, देश का सच्चा आशीर्वाद नहीं लाभ कर सकते जब तक उनके उद्धार

1- प्रताप नारायण ग्रन्थावली: पृष्ठ 123

2- वही, पृष्ठ 223

का प्रयत्न न कीजिए जो जानते भी नहीं हैं कि उद्धार किस चिड़िया का नाम है, देश भक्ति अथवा जाति हितैषिता किस खेत की मूली है।"[1]

मिश्र जी का स्पष्ट मत है कि जब तक गाँवों में रहने वाली गरीब जनता की दशा में कोई सकारात्मक परिवर्तन नहीं होता है तब तक देश की प्रगति की कामना दिवा स्वप्न होगा। इस प्रकार मिश्र जी देश के आर्थिक सामाजिक विकास में दलित शोषित ग्रामीण जनता की स्पष्ट भागीदारी चाहते थे और इस प्रकार के सही मायने में ठेठ देशी लोक जागरण की नींव रख रहे थे-

"एवं यह कहना भी अत्युक्ति न समझिएगा कि उन्हीं (ग्रामीण जनता) के बनने बिगड़ने का नाम देश का बनना बिगड़ना है। पर क्या कीजिए जो लोग देश के सुधार का बाना बाँधे हैं वे आज तक इनके सुधारने का नाम ही नहीं लेते। नहीं तो यह लोग वे हैं जो नगर निवासियों की अपेक्षा अधिक निष्कपट, अतिशय कृतज्ञ, बड़े सहिष्णु और महादृढ़ चित्त होते हैं।"[2]

मिश्र जी राष्ट्र की प्रगति हेतु हिन्दू-मुस्लिम एकता की अनिवार्यता को महसूस करते थे। किन्तु उनके लेखन में हिन्दुओं के प्रति कुछ झुकाव मिलता है। जिसे देखकर कुछ लोगों ने मिश्र जी पर साम्प्रदायिक होने का आरोप लगाया है। उनका आरोप है कि मिश्र जी निरन्तर अपने लेखन में 'हिन्दू' और 'हिन्दी' की बात करते हैं। मुसलमानों और उर्दू को वे फूटी आँख से भी नहीं देखना चाहते हैं। किन्तु यह आरोप सही नहीं है। यद्यपि मिश्र जी हिन्दुओं के प्रति कुछ अतिरिक्त सहानुभूति रखते थे किन्तु वे मुसलमानों के विरोधी नहीं थे। देश की प्रगति के लिए वे धार्मिक सहिष्णुता एवं हिन्दू-मुस्लिम एकता एवं सहयोग की आवश्यकता भी महसूस करते थे। 'आलमे तसवीर' नामक उर्दू पत्र के सम्पादक को ऐसा ही एक सुझाव देते हुए वे कहते हैं-

---

1- प्रताप नारायण ग्रन्थावली: पृष्ठ 28।

2- वही, पृष्ठ 28।

"हिन्दू मुसलमान दोनों भारत माता के हाथ हैं । न इनका इनके बिना निबाह है और न उनका उनके बिना। अतः सामाजिक नियमों में एक दूसरे के सहायक हों। इसमें दोनों का कल्याण है कोई दाहिने हाथ से बायाँ हाथ अथवा बाएँ से दाहिना हाथ काट के सुखी नहीं रह सकता।"[1]

किन्तु कहीं-कहीं ऐसे उद्वरण भी मिलते हैं जिससे मिश्र जी पर साम्प्रदायिक होने का आरोप सही भी प्रतीत होता है यथा - टेंढ जानि शंका सब काहू' नामक निबन्ध में वे कहते हैं-

हिन्दूस्तान में मुसलमानों की संख्या थोड़ी, धन थोड़ा विद्या थोड़ी, फिर क्यों वे गाय मार डालें, हम अपने ठाकुर न निकाल पावें, हमारे देवताओं और ऋषियों को निर्लज्ज गाली बकें, हम उनकी किताब के अनुसार सीधा जबाब भी न दे सकें।"[2]

किन्तु इसे अपवाद ही समझा जाना चाहिए। संक्षेप में हम कह सकते हैं कि कट्टर आस्तिक होते हुए भी मिश्र जी साम्प्रदायिक नहीं थे और हिन्दू-मुस्लिम एकता के पक्षधर थे।

बालकृष्ण भट्ट:

पं० बालकृष्ण भट्ट हिन्दी के आद्य-आचार्यो में अग्रणी थे। सन् 1877 ई० के सितम्बर महीने में आपने 'हिन्दी प्रदीप' नामक मासिक पत्रिका का प्रकाशन कर हिन्दी पत्रकारिता को नई दिशा दी। हिन्दी के प्रचार-प्रसार तथा राष्ट्रीय चेतना को बलवती बनाने के साहित्यिक अनुष्ठान ने भट्ट जी को भीषण आर्थिक संकट में डाल दिया था। उन्होंने जिस बलिदान की भावना से विभिन्न कठिनाइयों का सामना किया वह असाधारण है। भट्ट जी के निबन्ध साहित्यिक दृष्टि से तो उच्चकोटि

1- प्रताप नारायण ग्रन्थावली: पृष्ठ 127

2- वही, पृष्ठ 41

के हैं ही राष्ट्रीय और सामाजिक चेतना की मार्मिक अभिव्यक्ति के विचार से भी पठनीय हैं।

भट्ट जी अपने युग के एक सजग पत्रकार थे। उनका सम्पूर्ण लेखन प्रसुप्त राष्ट्रीय एवं सांस्कृतिक चेतना तथा राजनीतिक जागरण के लिए समर्पित है। "ईश्वर की क्या ही ठठोल है' शीर्षक निबंध में भट्ट जी ने तत्कालीन भारतीय समाज में व्याप्त सामाजिक कुरीतियों, रूढ़ियों, अंधविश्वासों पर व्यंग्य किया है। भट्ट जी का उद्देश्य सामाजिक- सांस्कृतिक जागरण है जिससे भारत चौमुखी विकास कर सके और अंग्रेजों के विरुद्ध एक सशक्त राष्ट्रीय आन्दोलन चला सके। इस निबंध में अंग्रेजों की शोषण नीति को भी उजागर किया गया है। भट्ट जी स्पष्ट देख रहे थे कि भारतीय हस्त-शिल्प एवं कुटीर उद्योगों के ह्रास का प्रमुख कारण अंग्रेजी सरकार की शोषण नीति ही है। इसी योजना के चलते भारतीय किसान आज स्वयं अपने पेट भरने में असमर्थ है और बाढ़, अकाल जैसी दैवीय आपदाओं के आने पर असमय काल का ग्रास बन जाते हैं। किसानों के शोषण को रेखांकित करते हुए वे कहते हैं-

"हमारे किसान मर-मर पच-पच करोडों मन गेहूँ पैदा करे। वह यदि सबका सब हमारे काम में आवे तो चुकाये न चुके, पर गेहूँ खेत में रहता है तभी रेली ब्रदर के कारिन्दे गॉव-गॉव घूम खेत का खेत चुकता कर लेते हैं हम मुँह ताकते रह जाते हैं।"[1]

अंग्रेज भारतीयों का तरह-तरह से शोषण करते थे। एक ओर तो भारतीय किसान ऊँची लगान से त्रस्त था दूसरी ओर उसे अपने उत्पाद कम मूल्य पर बेंचने को मजबूर किया जाता था। बड़े-बड़े कृषि फार्मो एवं बागानों के मालिक अंग्रेज थे। ये लोग भारतीय मजदूरों से बेगार लेते थे और उन्हें तरह-तरह की यातनायें देते थे। अंग्रेजों की इसी शोषण नीति का वर्णन करते हुए भट्ट जी कहते हैं- " रेली ब्रदर्स के हौसले का

1- भट्ट निबंधावली (पहला भाग): संपा0 धनंजय भट्ट 'सरल' पृष्ठ-15

अन्त तब होगा कि हिन्दुस्तान में एक दाना भी गेहूँ का न रह जाय, सबको सब जहाजों में लाद विलायत तथा और मुल्कों में पहुँचा दें।"[1]

इसी प्रकार प्राचीन भारत के आर्थिक सम्पन्नता को याद करते हुए वर्तमान भारत की आर्थिक विपन्नता का कारण लेखक अंग्रेजों की शोषण नीति में देखता है-

"कहाँ की ऐसी कामधेनु धरती है, जो अत्यन्त उर्वरा होने से कई करोड का धन प्रतिवर्ष उगला करती है? दो वर्ष के लिए चिउटियु- ढोअन बन्द हो जाय और यहाँ का धन यहीं रहने पावे, देश सोने-चाँदी से मढ़ जाय।"[2]

19वीं शताब्दी के धार्मिक-सामाजिक सुधार आन्दोलनों का भारतीय नवयुवकों पर एक कुप्रभाव यह पड़ा कि वे पश्चिमीकरण को आधुनिकीकरण मान बैठे। कुछ भारतीय नवयुवकों ने अंग्रेजी शिक्षा एवं पश्चिमी विचारों से प्रभावित होकर पश्चिमी वस्त्र धारण किये तथा पश्चिमी रहन-सहन की नकल शुरू की। भट्ट जी ने अपने लेखन के माध्यम से इसका विरोध किया और नवयुवकों को सही मार्ग दिखाने का प्रयास किया। भट्ट जी ने अपने लेखन में यह दिखलाया कि आधुनिकता के मुख्य आधार मानव विवेक, ज्ञान, वैज्ञानिक दृष्टिकोण एवं मानवतावाद आदि हैं। लेकिन ये सभी तत्व किसी देश या समाज को तभी आधुनिक बना सकते हैं जब इनका उस समाज के सन्दर्भ में स्वाभाविक रूप से विकास और विवेकपूर्ण उपयोग हो। भारत में आधुनिकता अंग्रेजी नहीं बल्कि हिन्दी और अन्य लोक भाषाओं के माध्यम से आ सकती थी। इसलिए भट्ट जी पाश्चात्य सभ्यता के अंधानुकरण की आलोचना करते हैं-

---

1- भट्ट-निबंधावली (पृष्ठ पहला भाग): संपा0 धनंजय भट्ट 'सरल' पृष्ठ, 64

2- वही, पृष्ठ 65

"हमारे देशों के सुशिक्षितों के उत्साह का अंत इसी में है कि वेश-भूषा, रहन-सहन, खान-पान में कहीं पर किसी अंश में हिन्दुस्तानी न मालूम हों। क्या करें? लाचारी है चमड़ा गोरा नहीं कर सकते।"[1]

पण्डित बालकृष्ण भट्ट ने 'हिन्दी प्रदीप' के माध्यम से देश के सम्पूर्ण जन-मानस को दिशा दी, नेतृत्व किया, लोकजागरण का शंखनाद किया। लोकजागरण के लिए इन्होंने हिन्दी भाषा और देवनागरी लिपि की आवश्यकता शिद्दत के साथ महसूस किया ओर अपने पत्र के माध्यम से इस सन्दर्भ में जनमत तैयार करने का प्रयास किया। उन्होंने इस प्रश्न को एक गम्भीर राष्ट्रीय समस्या के रूप में प्रस्तुत किया। 1896 ई0 'हिन्दी प्रदीप' में उन्होंने लिखा-

"प्रजा की भलाई के अनेक प्रश्नों में सबसे भारी प्रश्न देश भाषा तथा देशी अक्षरों का है जिसके द्वारा प्रजा के बीच विद्या का फैलाव बड़ी सुगमता के साथ हो सकता है।"[2]

देवनागरी लिपि को न्यायालय लिपि और कार्यालय लिपि की मान्यता प्रदान कराने की दिशा में इस मासिक पत्र के बहुमूल्य योगदान का अक्षय महत्व है। भाषा और लिपि के प्रश्न आने पर भट्ट जी ने भाषा की अपेक्षा लिपि के प्रश्न को अधिमानता और प्राथमिकता प्रदान की। यह भट्ट जी की दूरदृष्टि थी। क्योंकि मात्र एक लिपि के ज्ञान से भारतीय भाषाओं के सम्पूर्ण साहित्य से परिचय प्राप्त करना सम्भव था। "हिन्दी प्रदीप" के अप्रैल 1882 ई0 के अंक में 'प्रार्थना' शीर्षक सम्पादकीय अग्रलेख में भट्ट जी ने यह मत व्यक्त किया है कि देव नागरी लिपि अर्थात नागराक्षर सम्पूर्ण भारत के राजकार्य में प्रचलित किये जाँय, सभी न्यायालयों एवं दरबारों में फारसी लिपि के स्थान पर देवनागरी लिपि में कार्यवाही हो। भट्ट जी के मूल शब्दों में-

---

1- भट्ट निबंधावली (पहला भाग): संपा0 धनंजय भट्ट 'सरल' पृष्ठ-64

2- नागरी पत्रिका,वर्ष 27, अंक 7 (15 अक्टूबर 95 से 15 नवम्बर 95 तक) पृष्ठ 72

"..... यदि ...... नागराक्षर सम्पूर्ण भारत वर्ष के राजकार्य में प्रचलित किये जाय तो कैसी अच्छी बात हो.... (इसमें) हर एक की बोल चाल के अनुकूल उच्चारण निकलते हैं..... लाखों करोड़ों हम हिन्दुस्तानी प्रजा दिलोजान से चाहती हैं कि सब कचेहरी दरबार में फारसी अक्षरों की जगह देवनागरी में लिखा-पढ़ी हो और इसी में सब हिन्दी उर्दू मरहठी पंजाबी आदि की पुस्तकें छपा करें....।"[1]

अतः स्पष्ट है कि राष्ट्र लिपि के सर्वप्रथम स्वप्न द्रष्टा भट्ट जी ही थे। राष्ट्रलिपि की परिकल्पना भट्ट जी ने 1882 ई0 में की और 1886 ई0 में उन्होंने हिन्दी को एक मात्र जातीय भाषा अर्थात राष्ट्र भाषा घोषित किया। 'हिन्दी प्रदीप'। अप्रैल 1886 ई0 में प्रकाशित 'भारत वर्ष की जातीय भाषा' शीर्षक सम्पादकीय अग्रलेख वस्तुतः राष्ट्र भाषा हिन्दी का घोषणा पत्र ही है। उक्त सम्पादकीय अग्रलेख में भट्ट जी कहते हैं-

"यदि देश का कुछ भी अभिमान हमको है तो ऐसा उपाय शीघ्र करना चाहिए जिससे हमारी भाषा एक जातीय भाषा हो जाय।"[2]

भट्ट जी एक अदम्य साहसी पत्रकार थे। राष्ट्रीय तथा सामाजिक समस्याओं पर स्वतंत्र विचार प्रकाशित करना इनका लक्ष्य होता था भले ही इसके लिए उन्हें ब्रिटिश सरकार का कोपभाजन ही क्यों न बनना पड़े। तत्कालीन आर्थिक विपन्नता, सामाजिक-राजनीतिक दुर्वस्था का चित्रण करते हुए भट्ट जी जन जागरण का आह्वान करते हैं-

"अंगरेजी राज्य के इस बड़े शासन में जब हम सब ओर से दबे हैं और चारों ओर से ऐसे कस दिये गये हैं कि हिल नहीं सकते आमदनी का कोई द्वार खुला

1- **नागरी पत्रिकाः वर्ष 28, अंक 7 (15 अक्टूबर 95 से 15 नवम्बर 95) पृष्ठ 74**

2- **नागरी पत्रिकाः वर्ष 28 अंक 7 (15 अक्टूबर 95 से 15 नवम्बर 95): पृष्ठ 74**

न रह गया। यावद्वस्तु की गिरानी से खर्च इतना बढ़ गया कि किसी तरह पेट भर अन्न मिलता जाय, रूखी-सूखी खाकर बाल-बच्चों, को पाल सकें, मानों समस्त सपूती का निचोड़ आ गया। ऐसी हालत में भी जब हम न चेते तब अब कब चेतेंगे?"[1]

पं0 बदरी नारायण चोधरी 'प्रेमघन':

प्रेमघन जी भारतेन्दु युग कि प्रतिष्ठित लेखक थे। भारतेन्दु युग के साहित्य-निर्माण में उनका बहुत ही महत्वपूर्ण योगदान रहा है। आप मासिक पत्रिका 'आनन्द कादम्बनी' तथा साप्ताहिक पत्रिका 'नागरीनीरद' के सम्पादक थे। भारतेन्दु और प्रेमघन जी में घनिष्ठ मित्रता थी और दोनों में पर्याप्त साम्य भी था। पं0 अयोध्या सिंह उपाध्याय 'हरिऔध' के शब्दों में "पं0 बदरी नारायण चोधरी बाबू हरिश्चन्द्र के मित्रों में से थे। दोनों के रूप रंग में समानता थी और हृदय से भी। दोनों ही ने आजन्म हिन्दी भाषा की सेवा की और दोनों ही ने उसको यथाशक्ति अलंकृत बनाया। दोनों ही अमीर थे और दोनों ही ऐसे हंसमुख थे जो रोते को हँसा दे।"[2] प्रेमघन जी के निबन्धों के प्रमुख विषय राजनीतिक और सामाजिक थे।

प्रेमघन जी हिन्द, हिन्दू और हिन्दी का उत्थान चाहते थे। भारत की पराधीनता के कारण उसकी किसी भी क्षेत्र में उन्नति न देख उनका मन दु:खी हो उठता है। उन्होंने अपने निबन्धों में उस युग की प्राय: सभी राजनीतिक घटनाओं और आन्दोलनों की चर्चा की है। राजनीतिक विषयों में प्रेमघन जी की अधिक रुचि थी। उन्होंने भारतेन्दु के समान पहले महारानी विक्टोरिया के शासन काल में प्रशंसा की थी। किन्तु बाद में उन्होंने अंग्रेजों की कूटनीति समझ में आ गयी। प्रेमघन जी ने 'नेशनल कॉग्रेस की दुर्दशा' नामक निबंध में इस सम्बन्ध में कहा भी है-

---

1- भट्ट निबंधावली (पहला भाग) पृष्ठ: 121

2- हिन्दी भाषा और साहित्य का विकास: हरिऔध, वि0सं0 1997 पृष्ठ 511

"सामान्यत· अँगरेजी राज्यारम्भ ही और विशेषतः सन् 1858ई0 की राज घोषणा से यहाँ की प्रजा को यह दृढ़ विश्वास हो गया था कि वास्तव में अंग्रजी शासन का अभिप्राय निःस्वार्थ भाव केवल भारतोन्नति मात्र है। परन्तु बहुत दिन आशा लगाकर भीं जब देख पड़ा कि वे मनोहर बातें केवल कहने ही भर को थीं, कार्य्य में आने वाली नहीं, वरंच उसके विरुद्ध अब प्रत्यक्ष देश के अर्थ निपट हानिकारक अनेक कार्य होते ही चले जाते और सामान्यतः प्रजामत के विरोध से कोई फल नहीं होता, तब उसके प्रतीकार वा देशोद्धार के अर्थ इस नेशनल कॉग्रेस की सृष्टि की, जो स्वदेश-दुर्दशा देखकर असन्तुष्ट देश के शिक्षित समुदाय की महासभा की जिसके द्वारा बीस वर्ष चिल्लाकर साम्राज्य सें न तो, कुछ सच्चा फल और न प्रतिष्ठा ही पाकर हताश अनेक बाधाओं को झेलता, अपनी जान पर खेलता, देश में यह नवीन दल, जो दिन दूनी और रात चौगुनी उन्नति करता ही चला जाता, जिसने तीन ही वर्ष में देश की दशा पलट दी, उत्पन्न हुआ।"[1]

19वीं शताब्दी के अन्तिम दशक में दादा भाई नौरोजी ने अंग्रेजों के आर्थिक शोषण का गम्भीर एवं यथार्थ परक विश्लेषण प्रस्तुत किया। अपने विश्लेषण में उन्होंने दिखलाया कि किस प्रकार भारत का धन लगातार ब्रिटेन पहुँच रहा है और भारत को उस धन पर कोई प्रतिकर नहीं मिलता है। यही धन प्रवाह भारत की गरीबी का प्रमुख कारण था। प्रेमघन जी भी भारत की आर्थिक स्थिति को लेकर बहुत चिन्तित थे। उन्होंने भारतवासियों को जागृत करने के लिए आर्थिक शोषण का जगह-जगह वर्णन किया है। यथा- 'भारतवर्ष के लुटेरे और उनकी दीन दशा' नामक निबंध में वे लिखते हैं-

"विदेशी व्यापारियों ने भी लूट का डंका बजा ऐसा इस देश के व्यापार को सत्यानाश किया कि जितनों की जीविका इससे चलती थी जिनके गृह में व्यापार

1- प्रेमघन-सर्वस्व (द्वितीय भाग): संपा0 प्रभाकेश्वर प्रसाद उपाध्याय, पृष्ठ 311-312

करने की परिपाटी चली आ रही थी, अब वह घूमते चिल्लाते चार पैसे की मजदूरी ढूँढ रहे हैं। विलायती व्यापारियों ने जैसी कुछ दीन दशा इस देश की की और किसी प्रकार कभी हो ही नहीं सकती थी। जो प्राचीन नगर व्यापार में विख्यात थे अब वहाँ खण्डहरों का दृश्य विदेशी व्यापारियों के निर्दयता को सूचित कर रही है।"[1]

ब्रिटिश शासन काल में भारत से ब्रिटेन को धन प्रवाह निरन्तर जारी था। यह धन कई स्रोतों से ब्रिटेन पहुँचता था। यथा- अंग्रेज कर्मचारियों के वेतन एवं पेंशन के रूप में रेलवे, बैंक, खदान, बीमा आदि अनेक क्षेत्रों में किये गये निवेश पर लाभ एवं ब्याज के रूप में भारतीय राजाओं जमींदारों से लिये गये नजरानों के रूप मे, यही धन प्रवाह भारत की आर्थिक विपन्नता का प्रमुख कारण था। जिसकी ओर लोगों का ध्यान आकृष्ट करते हुए प्रेमघन जी कहते हैं-

"जब इस देश में परदेशी नहीं थे और राज्य का भार देशियों पर था तब इसी देश के लोग नौकरी पाते थे। अब विदेशी राजा के होने से नौकरियाँ विलायतियों को विशेषकर दी जाती हैं। और देश के लोगों को परिश्रम कर उनके विद्याओं के पढ़ने पर भी नौकरी नहीं मिलती यदि ये विदेशी यहाँ नौकरी कर यहीं रह जाते और अपने धन को इसी देश में रखते तो थोड़ा बहुत उपकार इस देश का उनसे होता, पर वे तो नौकरी कर कड़ाकुल पक्षियों की भाँति ऋतुपरिवर्तन होते ही पेन्शिन ले उड़कर अपने देश को चले जाते हैं। हमारे देश की दरिद्रता तब पूर्ण रूप से अत्यन्त हो जाती है।"[2]

1- प्रेमघन सर्वस्व (द्वितीय भाग): संपा0 प्रभाकेश्वर प्रसाद उपाध्याय, पृष्ठ: 278

2- वही, पृष्ठ 268

प्रेमघन जी के लिए स्वदेशी एक जीवन-दर्शन था। वे यह देखकर बहुत दुःखी थे कि भारतीय नवयुवक दिनोंदिन भारतीय सभ्यता एवं संस्कृति के उत्कृष्ट तत्वों को अनदेखा कर पाश्चात्य सभ्यता एवं संस्कृति का अंधानुकरण कर रहे हैं। भारतीयों को इस प्रवृत्ति से बचने का अनुरोध करते हुए वे 'स्वदेशीय वस्तु स्वीकार और विदेशी बहिष्कार' नामक निबन्ध में लिखते हैं -

"अवश्य ही सोलह आना भारत तो तबी तक था, जब तक विशुद्ध भारत वर्ष कहलाता था। जबसे इसका नाम हिन्दोस्तान पड़ा चार आना घटकर बारह आना शेष रहा था, किन्तु जबसे कि इण्डिया कहलाया इसने अपना सब कुछ गंवाया और कदाचित् अब उसे आना, आध आना कह देने में भी भारतीयता का अवशेष नहीं लखाता। शिक्षा-दीक्षा विदेशी, विद्या-बुद्धि विदेशी, मति गति विदेशी, रीति-नीति और प्रीति विदेशी, चाल-ढाल और माल-ताल भी विदेशी, खान-पान विदेशी, व्यायाम, विश्राम और नाम तथा काम सब विदेशी ही विदेशी की भरमार है।"[1]

इसी निबंध में भारतीय नवयुवकों द्वारा पाश्चात्य सभ्यता एवं संस्कृति का अंधानुकरण करने की प्रवृत्ति पर व्यंग्य करते हुए प्रेमघन जी लिखते हैं -

"भारतीय अब भारतीय नहीं रहे, वे अब साहेब लोग बनने की लालसा में मर रहे हैं। इसी से उन्हें भाँति-भाँति की विपत्तियाँ झेलनी पड़ती हैं। परन्तु शोक! वे अपनी दशा को भूलकर भी नहीं सोचते।"[2]

प्रेमघन जी नें जनता से कहा कि वह अपने देश में ही वस्तुओं का प्रयोग करे। इससे भारत की अर्थ व्यवस्था को नष्ट करने का जो षडयंत्र अंग्रेज शासकों द्वारा चलाया जा रहा है वह समाप्त हो जायेगा। इसे समाप्त किये बिना राजनीतिक आन्दोलन-

---

1- प्रेमघन सर्वस्व (द्वितीय भाग): संपा0 प्रभाकेश्वर प्रसाद उपाध्याय, पृष्ठ 233-234

2- वही,पृष्ठ 235

चलाना भी सम्भव नहीं था। क्योंकि जिस देश की आर्थिक स्थिति अच्छी नही हो वह अपना अस्तित्व भी बनाये नहीं रख सकता। इस प्रकार भारत की आर्थिक सुदृढ़ता और राष्ट्रीय आन्दोलन के प्रसार हेतु वे स्वदेशी वस्तु स्वीकार तथा विदेशी वस्तु बहिष्कार का सुझाव जनता के समक्ष रखते हैं यथा 'भारत वर्ष की दरिद्रता' नामक निबंध में वे कहते हैं -

"भारत वर्ष के 25 करोड़ वासियों में कोई भी ऐसा न होगा जो विलायती कपड़े न पहिनता हो और दूसरी आवश्यक सामग्रियों को इन्हीं विलायतियों के घर की बनी न लेता हो। जब आवश्यक शारीरिक वस्त्र को हमें परदेशियों से लेना पड़ता है, तब धन का रहना कैसे सम्भव है, निदान व्यापार का नाश हो जाना ही देश की दरिद्रता का मुख्य कारण है।"[1]

इसके निदान हेतु प्रेमघन जी भारतीय राजाओं से निवेदन करते हैं कि वे अपनी प्रजा को विदेशी कपड़े का प्रयोग न करने दें। 'भारत वर्ष के लुटेरे और उनकी दीन दशा' नामक निबंध में वे कहते हैं -

"अनुमान कीजिए कि यदि इस देश के राजा लोग एक बार इस बात पर तत्पर हो जायें कि वे अपनी प्रजा को विलायती कपड़े पहनने से रोकेंगे तो क्या गवर्नमेंट उनका कुछ भी कर सकती है।"[2]

प्रेमघन जी का दृढ़ विश्वास था कि देश की आर्थिक प्रगति स्वदेशी उद्योगों के विकास से ही सम्भव है। इसमें लाखों लोगों को रोजगार भी मिलेगा। स्वदेशी उद्योगों

1- प्रेमघन सर्वस्व (द्वितीय भाग): संपा0 प्रभाकेश्वर प्रसाद उपाध्याय, पृष्ठ-266

2- वही, पृष्ठ 279

के विकास के लिए वे सभी लोगों विशेषकर राजाओं से मिलकर पूँजी लगाने का अनुरोध करते हैं, तभी ये उद्योग ब्रिटेन के उद्योगों का मुकाबला करते हुए फल-फूल सकेंगे- 'भारतवर्ष के लुटेरे और उनकी दीन दशा' नामक निबंध में वे कहते हैं-

"ऐसे ही और सब राजा मिलकर यदि कटिबद्ध हो 80, 85 करोड़ रूपया कपड़े के निमित्त लगा दें तो देश की दशा कुछ दिनों में और की और हो जाय। करॉंची पूर्वीय मैन्चेस्टर और लंकाशायर बन जाय। राजाओं को लाभ हो देश दरिद्रता से छूटे। ऐसे ही आवश्यक विषयों के भी बनाने का प्रयत्न धीरे-धीरे किया जाय। परन्तु पहले कपड़े ही की ओर ध्यान देना उचित है। क्योंकि उसके बिना धनी से दरिद्र तक का काम नहीं चल सकता।"[1]

1857 के विद्रोह में हिन्दू और मुसलमान दोनों ने कंधा सो कंधा मिलाकर अंग्रेजों के विरुद्ध संघर्ष किया था। विद्रोह के दिनों में दोनों सम्प्रदायों में किसी प्रकार का वेर-भाव न था। अंग्रेजों ने इस हिन्दू-मुस्लिम एकता को अपनी बहुत बड़ी हार के रूप में देखा तथा "बॉटो और राज करो' की नीति के अन्तर्गत साम्प्रदायिक विद्वेष फैलाने लगे। उन्होंने समय-समय पर हिन्दू और मुस्लिम कट्टरपंथियों को बढ़ावा दिया। जिससे भारत में अनेक धार्मिक दंगे होने लगे।, इन दंगों में हजारों लोग शहीद हुए। तथा 1857 के विद्रोह के दिनों की हिन्दू मुस्लिम एकता अतीत की बात हो गयी। दोनों प्रमुख सम्प्रदायों में एकता न होने के कारण भविष्य में भारतीय अंग्रेजी हुकूमत को कोई संगठित चुनौती देने में असमर्थ रहे तथा राष्ट्रीय चेतना का धीरे-धीरे ह्रास होने लगा। प्रेमघन जी भारत की सामाजिक-राजनीतिक दुर्दशा का कारण इसी हिन्दू-मुस्लिम विद्वेष को मानते हैं तथा भारत के उद्धार हेतु दोनों सम्प्रदायों में एकता स्थापित करने का आह्वान करते हैं-

---

1- प्रेमघन सर्वस्व (द्वितीय भाग): संपा0 प्रभाकेश्वर प्रसाद उपाध्याय, पृष्ठ-280

"निदान अब वह समय है कि भारत की प्रजा में दो दल अथवा कयी दल क्यों न हों, परन्तु उन्हें परस्पर का द्रोह और विरोध भूल करते हुए ऐक्य उत्पन्न कर आपस में मिलकर देश के हित साधन में संलग्न होना चाहिए। क्योंकि इसी कारण भारत वर्ष की ऐसी हीन और दीन दशा हुई है। और जब तक यह विरोध यों ही बना रहेगा इसके उद्धार का कोई उपाय न होगा। सुतराम हिन्दू और मुसलमान दोनों दल को अब अपने अपने आग्रह को शिथिल करके परस्पर स्नेह वर्धन में यत्नवान् होना चाहिए।"[1]

भारतेन्दु युगीन निबंधकार भारतीयों की सुप्त चेतना को जागृत करना चाहते थे। वे अपने देशवासियों में अदम्य-वीरता और साहस को कूट-कूट कर भरना चाहते थे। इसके लिए उन्होंने भारतीय वीरों तथा आदर्श चरित्रों का गुणगान किया। उन्होंने महाराणा प्रताप, श्री कृष्ण, शंकराचार्य, अकबर, शिवाजी, अशोक, चन्द्रगुप्त आदि का चरित्र प्रस्तुत कर भारतीय जन-जीवन को प्रोत्साहित करने का भरपूर प्रयास किया। प्रेमघन जी मेवाड़ के राणा प्रताप के त्याग और बलिदान का स्मरण कराते हैं और जातीय गौरव तथा राष्ट्रीय चेतना के प्रसार हेतु इस महावीर राष्ट्रभक्त का वार्षिकोत्सव मनाने का सुझाव देते हैं-

"इसी भाँति हम लोगों को भी कोई बीरवर प्रताप सिंह से बढ़कर इधर आदरणीय नहीं लखाई पड़ता, अतः बिना विलम्ब के हम लोगों को भी उक्त महाराणा का वार्षिकोत्सव करके अपने एक आधुनिक जातीय गौरव के हेतु इस दुर्लभ वीर की प्रतिष्ठा और पूजा कर जातीय जीवन को उन्नत और उत्साहित करना चाहिए और किसी प्रकार इसमें कदापि कुछ भी विलम्ब नहीं करना चाहिए।"[2]

1- प्रेमघन सर्वस्व (द्वितीय भाग): संपा0 प्रभाकेश्वर प्रसाद उपाध्याय, पृष्ठ-250

2- वही, पृष्ठ-228

भाषा राष्ट्रीय एकता की एक महत्वपूर्ण कड़ी है, यह प्रेमघन जी बखूबी समझते थे। देश तथा जाति के उत्थान का मूल कारण उनकी दृष्टि में देशीय भाषा ही थी। उनका स्पष्ट मत था कि भारत में राष्ट्रीय एवं सामाजिक सांस्कृतिक चेतना का प्रसार लोक भाषाओं में ही सम्भव है, अंग्रेजी या अरबी में नहीं। उनकी देशीय भाषा सम्बंधी तड़फ तथा श्रद्धा उनके "हमारे देश की भाषा और अक्षर" नामक निबंध का अवलोकन करने से आभासित होती है। उदाहरण दृष्टव्य है-

"साम्राज्य जो अपने न्यायालयों में अरबी अक्षरों के स्थान पर रोमन अक्षरों का प्रचार करना चाहता है, वास्तव में अरबी अक्षरों को इस देश पर कोई स्वत्व नहीं है। परन्तु यह एक बड़ा अन्याय होगा कि जो बात भारत के किसी प्रदेश में प्रचरित नहीं है, केवल इसी प्रान्त में प्रचारित की जाय। अतः देशी भाषा के संग देशी ही अक्षर हिन्दी अर्थात् नागरी का प्रचार देना न्याय सम्मत है, क्योंकि वही इस देश का अक्षर है और उसी को प्रजा पढ़ती लिखती और कार्य्य में लाती है।"[1]

बाल मुकुन्द गुप्तः

बाल मुकुन्द गुप्त भारतेन्दु और द्विवेदी युग के मध्य की कड़ी हैं और हिन्दी निबंध साहित्य में विशिष्ट स्थान के अधिकारी हैं। ये प्रारम्भ में उर्दू में लेखन कार्य करते थे। सन् 1889 के अन्तिम दिनों में मदन मोहन मालवीय जी के सम्पर्क में आने पर गुप्त जी उर्दू क्षेत्र को छोड़कर हिन्दी क्षेत्र में आ गए। और कालाकांकर के हिन्दुस्थान' के सह सम्पादक बन गए। बाल मुकुन्द गुप्त एक उच्च कोटि के व्यंग्यकार थे। व्यंग्यात्मकता एवं विनोदप्रियता उनकी शैली के प्रधान गुण थे। गुप्त जी के लेखन का विषय मुख्यतः राजनीतिक था। वे परतंत्र भारतीय जनता की पीड़ा और आक्रोश को समझते थे। इसी

1- प्रेमघन-सर्वस्व (द्वितीय भाग) : संपा0 प्रभाकेश्वर प्रसाद उपाध्याय, पृष्ठ:59

कारण गुप्त जी के निबंधों में अंग्रेजों के प्रति विद्रोह की भावना सर्वत्र दिखाई देती है।

निबंधकार बाल मुकुन्द गुप्त में अपने देश को स्वतंत्र कराने की तीव्र इच्छा दृष्टिगत होती है। उन्होंने इसके लिए स्थान-स्थान पर अंग्रेजों का विरोध किया। 'गीदड़ भबकी' नामक निबंध में ब्रिटिश सरकार के प्रति आक्रोश प्रकट करते हुए वे कहते हैं -

"भारतवासी अपने देश में स्वाधीन न रहें-सहे और स्वाधीनता का अधिकार न प्राप्त करें, यह क्यों?..... क्या स्वाधीनता इनका नाम है कि अपने लिए स्वाधीनता पसन्द की जाए और दूसरें के लिए गुलामी। यह तो स्वाधीनता नहीं, संकीर्णता और स्वार्थपरता है।"[1]

अंग्रेजों के शोषण से भारतीयों की दशा अत्यन्त दयनीय हो गयी थी। देश वासियों को जागृत करने के लिए गुप्त जी ने समाज की इस अवस्था का यथार्थ चित्रण किया है। जहाँ भारतीय प्रजा को पेट भर खाना भी नहीं लिता था, वही अंग्रेज लोग गुलछर्रे उड़ा रहे थे। देश के इस दुर्दशा का चित्रण गुप्त जी ने अपने एक निबंध में इस प्रकार किया है-

"आपके स्वदेशीय यहाँ बड़ी-बड़ी इमारतों में रहते हैं। जैसी रुचि हो, वैसे पदार्थ भोग सकते हैं, भारत आपके लिए भोग्य भूमि है किन्तु इस देश के लाखों आदमी इसी देश में पैदा होकर अवारा कुत्तों की भाँति भटक-भटक कर मरते हैं। उनको दो हाथ भूमि बैठने को भी नहीं, पेट भर खाने को नहीं, मैले चिथड़े पहनकर उमरें मिटा देते हैं और एक दिन कहीं पड़कर चुपचाप प्राण दे देते हैं। हाल की

1- बाल मुकुन्द गुप्त निबंधावली, प्रथम भाग, पृष्ठ-202

इस सर्दी में कितनों ही के प्राण जहाँ-तहाँ निकल गये।"[1]

गुप्त जी ने अपने निबंधों में अंग्रेजी शासक के लिए 'माई लार्ड' शब्द का प्रयोग किया है। एक स्थान पर वह माई लार्ड से कहते हैं कि - "वह कभी भारत के गाँव तथा नगरों की दशा तो देखें कि वहाँ लोग किस प्रकार अपने जीवन व्यतीत कर रहे हैं। यदि किसी दिन माई लार्ड नगर की दशा देखने को चलते तो वहाँ देखते कि लाखों लोग ऐसे हैं जो भेड़ और सुअरों के समान जी रहे हैं। वे गन्दे-गन्दे सड़े झोपड़ों में रहते हैं। झोपड़ों के बाहर कीचड़ और कूड़े के ढेर से लगे रहते हैं। उनमें से बहुत से लोग तो ऐसे हैं जिन्हें भरपेट खाना तथा तन ढ़कने को कपड़ा भी नहीं मिल पाता।"[2]

उनका कहना है कि धन के अभाव के कारण तो लाखों लोगों की यह दुर्दशा है ही इसके साथ ही अकाल और प्लेग ने समाज की दशा को और भी बिगाड़ दिया है । तब भी सरकारी कर भी कम नहीं होता। राज भक्ति नामक निबंध में वह कहते हैं- "कितने ही साल हो गये, अकाल इस देश में बराबर विराजमान रहता है। दस साल से प्लेग नाम की व्याधि ने यहाँ के निवासियों को घेरा है। जो हर साल लाखों आदमियों को खपा देती है और इस साल तो उसका इतना बल बढ़ा है कि एक महीने ही में तीन चार लाख आदमियों को समाप्त कर देती है। तब भी सरकारी कर कभी कम नहीं होता बल्कि बढ़ता ही रहता है।"[3]

1- बाबू बाल मुकुन्द गुप्त, शिव शम्भु के चिट्ठे आशा का अंत पृष्ठः 35

2- शिव शम्भु के चिट्ठे, छठा चिट्ठा पृष्ठ 42

3- बाल मुकुन्द गुप्त के श्रेष्ठ निबंध, चिट्ठे और खतः पृष्ठ 56

इस प्रकार अकाल, बीमारियों, सरकारी करों तथा अंग्रेजों की शोषण नीति के कारण जनता का सुख प्रायः समाप्त हो चुका था। भारतवासियों के जीवन में निराशा के बादल छाये हुए थे। ऐसे समय में गुप्त जी ने भारत को सम्बोधित करते हुए कहा-

"भारत। तेरी वर्तमान दशा में हर्ष को अधिक देर स्थिरता कहाँ? कभी कोई हर्ष सूचक बात दस बीस पलक के लिए चित्त को प्रसन्न कर जाय तो वही बहुत समझना चाहिए।"[1]

भारतीय जनता अतिशय भाग्यवादी है गुप्त जी भारतीय जन-मानस के इस प्रवृत्ति को पराधीनता का सबसे बड़ा कारण मानते हैं। वे कहते हैं- "यहाँ की प्रजा वह प्रजा है जो अपने दुःख और कष्टों की अपेक्षा परिणाम का अधिक ध्यान रखती है वह जानती है कि संसार में सब चीजों का अन्त है। दुःख का समय भी एक दिन निकल जावेगा। इसी से सब दुःखों को झेलकर पराधीनता सहकर भी वह जीती है।"[2]

गुप्त जी को अपने देश की प्राचीन सभ्यता और संस्कृति पर गर्व था। उन्होंने ब्रिटिश शासन के प्रति रोष प्रकट करने के साथ-साथ अतीत का गौरवगान भी किया हे जिससे प्रेरित होकर भारतवासी उन्नति के पथ पर अग्रसर हो तथा परतंत्रता के विरुद्ध एकजुट होकर संघर्ष कर सकें। भारतीयों द्वारा अपनी पुरानी सभ्यता और संस्कृति को भुला दिये जाने पर क्षोभ और रोष व्यक्त करते हुए वे कहते हैं-

---

1- गुप्त निबंधावली, प्रथम भाग आर्शीवाद, पृष्ठ-235

2- बाल मुकुन्द गुप्त के श्रेष्ठ निबंध, चिट्ठे और खत, पृष्ठ 109

"जिस जाति से पुरानी कोई जाति इस धरा धाम पर मोजूद नहीं, जो हजार साल से अधिक की घोर पराधीनता सहकर भी लुप्त नहीं हुई , जीती है... वह जाति क्या पीछे हटाने और धूल में मिला देने योग्य है।"[1]

भारतेन्दु युगीन निबंधकार भारतीय वीर एवं आदर्श चरित्रों का गुणगान कर भारत की सुप्तचेतना को जागृत करना चाहते थे। वे देशवासियों में अदम्य वीरता ~~स्वं~~ एवं साहस का संचार करना चाहते थे। गुप्त जी ने भी ऐसी वीरों की वीरता का बखान किया है-

"इस देश में एक महा प्रतापी राजा के प्रताप का वर्णन इस प्रकार किया जाता था कि इन्द्र उसके यहाँ जल भरता था, पवन उसके यहाँ चक्की चलाता था, चाँद सूरज उसके यहाँ रोशनी करते थे, इत्यादि।"[2]

इस प्रकार हम देखते हैं कि भारतेन्दु की तरह गुप्त जी भी राष्ट्रीयता के प्रबल समर्थक थे। अपने एक निबन्ध में वह कहते भी हैं- "इस देश के सिवा हमारा कहीं ठिकाना नहीं। रहे इस देश में, चाहे जेल में चाहे घर में, जब तक जियें प्राण निकल जाये तो यही की पवित्र मिट्टी में मिल जॉय।"[3]

लाला श्री निवास दास:

लाला जी स्वभावतः गम्भीर, शिष्ट एवं विनम्र प्रकृति के थे। इनके निबंधों में भारतेन्दु युगीन मस्ती, व्यंग्य और विनोद का अभाव है। ये मूलतः एक उपन्यासकार और नाटककार हैं। इनके निबंधों में 'भारत वृतान्त तथा 'भारत खण्ड की समृद्धि' नामक निबंध प्रसिद्ध हैं।

1- बाल मुकुन्द गुप्त के श्रेष्ठ निबंध, चिट्ठे और खत पृष्ठ-93

2- बाल मुकुन्द गुप्त के श्रेष्ठ निबन्ध,चिट्ठे और खत पृष्ठ-92

3- बाबू बाल मुकुन्द गुप्त निबन्धावली, प्रथम भाग, आर्शीवाद पृष्ठ 238

"भारत वृत्तान्त" नामक निबन्ध में श्री निवास दास जी ने तत्कालीन भारत की दीन दशा का मार्मिक विवेचन किया है। देश के आर्थिक-सामाजिक पिछड़ेपन के कारणों पर प्रकाश डाला है। उनके अनुसार समस्त विकास के मूल में विद्या है। किन्तु विद्या नौकरी का साधन मात्र बन गयी है। विद्या से मनुष्य के व्यक्तित्व एवं चरित्र का जो समन्वित विकास होता है वह आज कहीं नजर नहीं आता। फिर ऐसे लोगों से राष्ट्रीय -सांस्कृतिक जागरण हेतु समर्पित होने की आशा कैसे की जा सकती है? लोग तो 'टाइप' बन गये हैं जिनके जीवन का उद्देश्य मात्र एक नौकरी तक सीमित हो गया है। भारत की इस दशा पर दु:खी होकर उन्हेंाने लिखा है-

'विद्या, धर्म, नीति, बल, व्यापार, एका, सार ग्रहिणी बुद्धि और नई-नई युक्ति निकालने की उमंग से देश का वैभव बढ़ता है। परन्तु यहाँ इनमें से कोई बात नहीं दिखाई देती। विद्या पढ़ने का फल यहाँ के लोग जीविका समझते हैं और इस काल मे मुख्य जीविका नौकरी है। फिर जिनके पास धन है या जिनकी बंधी जीविका है उनको तो विद्या पढ़ने से प्रयोजन नहीं रहा, ... और नौकरी सिवाय जिनकी जीविका का लिखने पढ़ने से सम्बन्ध है उनको भी विद्याभ्यास करना पड़ता है परन्तु वे भी अपने काम लायक पढ़कर पढ़ना छोड़ देते हैं। फिर भला ऐसे लोगों को विद्वान कौन कहे? और देश दशा सुधारने की इनसे क्या आस की जाय?"[1]

श्री निवास दास जी का 'भारत खण्ड की समृद्धि' नामक निबंध बड़ा प्रभावशाली है। इसमें उन्होंने भारत के प्राचीन गोरव का वर्णन किया है तथा भारत के वैभव से विदेशी लोगों ने कितना लाभ उठाया इसका भी उल्लेख किया है। निबंधकार का उद्देश्य देशवासियों को भारत के प्राचीन गोरव का स्मरण कराकर देशवासियों के हृदय में राष्ट्र प्रेम का संचार करना है जिससे वे भारत को अंग्रेजों के चंगुल से मुक्त कराने हेतु संगठित हो सके। भारत के प्राचीन गोरव का उल्लेख करते हुए वे कहते हैं-

---

1- सार सुधा निधि, 10 मार्च सन् 1879ई0 नं0 54, पृष्ठ-102

"भारत वृत्तान्त" नामक निबन्ध में श्री निवास दास जी ने तत्कालीन भारत की दीन दशा का मार्मिक विवेचन किया है। देश के आर्थिक-सामाजिक पिछड़ेपन के कारणों पर प्रकाश डाला है। उनके अनुसार समस्त विकास के मूल में विद्या है। किन्तु विद्या नौकरी का साधन मात्र बन गयी है। विद्या से मनुष्य के व्यक्तित्व एवं चरित्र का जो समन्वित विकास होता है वह आज कहीं नजर नहीं आता। फिर ऐसे लोगों से राष्ट्रीय -सांस्कृतिक जागरण हेतु समर्पित होने की आशा कैसे की जा सकती है? लोग तो 'टाइप' बन गये हैं जिनके जीवन का उद्देश्य मात्र एक नौकरी तक सीमित हो गया है। भारत की इस दशा पर दु:खी होकर उन्होंने लिखा है-

"विद्या, धर्म, नीति, बल, व्यापार, एका, सार ग्राहिणी बुद्धि और नई-नई युक्ति निकालने की उमंग से देश का वैभव बढ़ता है। परन्तु यहाॅ इनमें से कोई बात नहीं दिखाई देती। विद्या पढ़ने का फल यहाॅ के लोग जीविका समझते हैं और इस काल मे मुख्य जीविका नौकरी है। फिर जिनके पास धन है या जिनकी बंधी जीविका है उनको तो विद्या पढ़ने से प्रयोजन नहीं रहा, ... और नौकरी सिवाय जिनकी जीविका का लिखने पढ़ने से सम्बन्ध है उनको भी विद्याभ्यास करना पड़ता है परन्तु वे भी अपने काम लायक पढ़कर पढ़ना छोड़ देते हैं। फिर भला ऐसे लोगों को विद्वान कौन कहे? और देश दशा सुधारने की इनसे क्या आस की जाय?"[1]

श्री निवास दास जी का 'भारत खण्ड की समृद्धि' नामक निबंध बड़ा प्रभावशाली है। इसमें उन्होंने भारत के प्राचीन गौरव का वर्णन किया है तथा भारत के वैभव से विदेशी लोगों ने कितना लाभ उठाया इसका भी उल्लेख किया है। निबंधकार का उद्देश्य देशवासियों को भारत के प्राचीन गौरव का स्मरण कराकर देशवासियों के हृदय में राष्ट्र प्रेम का संचार करना है जिससे वे भारत को अंग्रेजों के चंगुल से मुक्त कराने हेतु संगठित हो सके। भारत के प्राचीन गौरव का उल्लेख करते हुए वे कहते हैं-

---

1- सार सुधा निधि, 10 मार्च सन् 1879ई0 नं0 54, पृष्ठ-102

"हाँ ये वो ही आर्यावर्त है जिसे देखने को सब विलायत वालों की अभिलाषा रहती थी। ये वो ही मध्य देश है जिसके एक पंडित को सिकन्दर शाह प्रतापी बड़े सम्मान से अपने संग ले गया था। ये वो ही आर्यावर्त है जहाँ से पंचतंत्र और शतरंज का खेल ले जाकर बुजुचिं महर ने नौरो खाँ को भेट किया था। ये वो ही भारत खण्ड है जिसमें 96000 मन सोना, असंख्य रत्न अलाउद्दीन ले गया था। और अब यह वही आर्यावर्त है जिसके आवश्यक कार्य भी पराधीन हैं।"[1]

देश की दुर्दशा को देखते हुए श्री निवास दास जी स्वदेश अभिमानी लोगों को देश की उन्नति के लिए अग्रसर होने के लिए प्रेरित करते हुए लिखते हैं-

"स्वदेशाभिमानी पुरुषों को उचित है कि जहाँ तक हो सके अपनी नामवरी का लालच छोड़कर अपने जाने हुए पदार्थो के सिद्ध करने में श्रम करें। अपनी बुद्धि का अभिज्ञान त्याग कर अन्य देशवासियों के उत्तम गुण ग्रहण करें।"[2]

राधाचरण गोस्वामीः

गोस्वामी जी के अधिकांश निबंध उनकी पत्रिका 'भारतेन्दु' में छपते थे। कुछ निबंध 'सार सुधा निधि' नामक पत्रिका में भी निकलते थे। उनके निबंध हास्य और व्यंग्य के स्रोत हैं। यमलोक की यात्रा, स्वर्ग की सैर, मूषक स्तोत्र, नापित स्तोत्र, मिस्टर बूट, रेलवे स्तोत्र, उल्लू गाथा, महाभारत-योग मुक्ति आदि उनके प्रमुख निबंध हैं।

'यमलोक की यात्रा' गोस्वामी जी का एक बहुत ही चर्चित एवं महत्वपूर्ण निबंध है। इसमें गोस्वामी जी ने स्वप्न के माध्यम से तत्कालीन सामाजिक तथा धार्मिक

1- हरिश्चन्द्र चन्द्रिका संख्या 9, सन् 1874, पृष्ठ-34

2- वही , पृष्ठ 27

दुराचारों एवं रूढ़ियों और अंग्रेजों के स्वार्थपूर्ण शासन तथा आर्थिक व्यवस्था पर न. ही मार्मिक व्यंग्य किया। गोस्वामी जी स्वप्न में देखते हैं कि 25 वर्ष की अवस्था में ही यमदूत उन्हें लेने आ गये हैं। उस समय उनके मुँह से निम्नलिखित बातें निकल पड़ती हैं-

"उन्नीसवीं शताब्दी में केवल 25 वर्ष ही जीये । हा । न सारे हिन्दुस्तान में नागरी का दफ्तर और हिन्दी का प्रचार देखा न विधवा विवाह प्रचलित हुआ न विलायत जाने की रोक उठी। न जाति पाँति का झगड़ा मिटा। न सिविल सर्विस में भर्ती होकर हिन्दुस्तानियों को उच्च पद मिले। न हमारे जीते जी प्रेस एक्ट उठा। न लाइसेंस टैक्स का मुँह काला हुआ। न लिबरलों की दया दृष्टि देखी। और हाय। न काबुल की लड़ाई का शुभाशुभ परिणाम मालूम हुआ।"[1]

उक्त कथन में गोस्वामी जी ने तत्कालीन राजनैतिक, सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक समस्याओं पर एक साथ ही व्यंग्य किया है। इस व्यंग्य में भारतीय जनता के उद्बोधन एवं राष्ट्रीय चेतना के प्रसार का प्रयास भी सन्निहित है।

"नापित स्तोत्र" एक सामाजिक-राजनीतिक स्तोत्र है। इसमें वह ब्रिटिश सरकार से कहते हैं-

"हमारे परिवार की सच्ची हितैषी करो। टैक्स घटाओ और काम उबाओ।"[2]

इस प्रकार स्पष्ट है गोस्वामी जी ने अपने निबन्धों के माध्यम से राष्ट्रीय सामाजिक जागरण हेतु स्तुत्य प्रयास किया।

1- यमलोक की यात्रा: राधा चरण गोस्वामी, पृष्ठ-3

2- भारतेन्दु कालीन व्यंग्य परम्परा, ब्रजेन्द्र नाथ पाण्डेय, पृष्ठ-31

काशी नाथ खत्री:

काशीनाथ खत्री भारतेन्दु युग के एक प्रतिष्ठित लेखक थे। उनकी रचनायें 'हरिश्चन्द्र मैग्जीन' तथा 'हरिश्चन्द्रिका' में प्रकाशित होते थे। खत्री जी अपने देश की प्रगति एवं स्वाधीनता के प्रति पूर्ण आशावान थे। उनके युग में शिक्षित भारतीय युवावर्ग पाश्चात्य सभ्यता एवं संस्कृति का अंधानुकरण कर नव जागरण एवं देश के आधुनिकीकरण का दिवास्वप्न देख रहे थे। जबकि खत्री जी का दृढ़ विश्वास था कि अपनी जमीन से कटा कोई भी सामाजिक-सांस्कृतिक आन्दोलन सफल नहीं हो सकता है। अपनी सभ्यता एवं संस्कृति के उत्कृष्ट तत्वों के पल्लवन से ही राष्ट्रीय चेतना का प्रसार हो सकता है तथा सामाजिक- आर्थिक प्रगति भी। उनके अनुसार भारत में आधुनिकता, अंग्रेजी नहीं बल्कि हिन्दी के माध्यम से आयेगी-

"जिस भारत वर्ष के निवासियों ने प्राय: सब एशिया को धर्म और विद्या का उपदेश दिया है वे सर्वथा दूसरे देशवासियों का अनुकरण करने में ही सत्य उन्नति न कर सकेंगे, भारत के उन्नति के मन्दिर का जब निर्माण होगा तब उसकी प्राचीन नींव पर ही होगा। यह वह भूमि नहीं है जहाँ कोई सर्वथा विदेश का वृक्ष लगा दे और वह भलीभांति पनपे।"[1]

खत्री जी का अपनी मातृभाषा के प्रति भी अगाध स्नेह था। उनका कहना था कि अपनी मातृभाषा की उन्नति से ही देश की उन्नति सम्भव है। इस सम्बन्ध में उन्होंने लिखा है कि- "देशोन्नति और देश भाषा की वृद्धि में वही सम्बन्ध है जो शरीर और छाया व अग्नि और धूयें में होता है।"[2]

1- भारतेन्दु मण्डल: ब्रज रत्न दास, पृष्ठ-33

2- भारत जीवन, प्रेरित पत्र: काशीनाथ खत्री, 10 मार्च 1884, पृष्ठ-3

उस समय भारत में विदेशी भाषा अंग्रेजी का अधिक प्रचलन था। इससे भी वह बहुत दु:खी होते थे। उनका कहना था कि हमारे देश में बालकों की शिक्षा हिन्दी में हो तथा न्याय का काम हमारी ही भाषा में हो।

इस प्रकार खत्री जी के निबन्धों से निश्चय ही राष्ट्रीय जागरण को एक नई गति एवं ऊर्जा प्राप्त हुआ।

राधा कृष्ण दास:

राधा कृष्ण दास जी बहुमुखी प्रतिभा सम्पन्न थे। उनके निबंधों में स्वर्ग की सैर, पंच, होली है आदि प्रमुख है। 'स्वर्ग की सैर' नामक निबंध में उन्होंने भारतीयों द्वारा पाश्चात्य जीवन एवं संस्कृति का अंधानुकरण करने पर करारा व्यंग्य किया है। राधाकृष्ण दास जी देश का समग्र विकास चाहते थे जो स्वदेशी एवं स्वावलम्बन की अवधारणा से ही सम्भव है। भारत के राष्ट्रीय-सामाजिक जीवन में नवचेतना का संचार तभी हो सकता है जब हम हर स्तर पर स्वदेशी को अपनावें और विदेशी का त्याग करें। किसी समाज या देश की सभ्यता एवं संस्कृति तो उसकी आत्मा होती है, फिर उसकी अवहेलना करके हम विकास और जागरण की बात कैसे सोच सकते हैं। इसलिए पाश्चात्य आचार-विचार के अंधानुकरण पर व्यंग्य करते हुए दास जी कहते हैं-

"कोट पतलून धन्य है इसको पहनने से व्यक्ति बिना किसी परिश्रम के स्वर्ग पहुँच जाता है। यह कितने आश्चर्य की बात है कि अंग्रेजी वस्त्र पहनते ही व्यक्ति ऊपर चढ़ने लगता है।"[1]

"पंच" नामक निबंध में बनारसी गप की बानगी है। इसमें लेखक ने उल्लेख किया है कि भारत में कितनी विषम परिस्थितियाँ हैं। भारत सामाजिक-सांस्कृतिक

1- राधा कृष्ण ग्रन्थावली: पृष्ठ-113

अंधकार में डूबा हुआ है। वह अंग्रेजों का गुलाम है और वे निरन्तर उसका आर्थिक शोषण कर उसे खोखला बना रहे हैं। ऐसी विषम परिस्थितियों में भी भारतवासी अपना समय गप-शप तथा लड़ाई झगड़े में व्यतीत करते हैं। ब्राह्मण लोग झूठे अध्यात्म का ढोंग रचते हैं।

राधाकृष्ण दास जी की रचनाओं में कोरा हास्य बहुत कम ही देखने को मिलता है। उनके हास्य व्यंग्य उद्देश्यपूर्ण हुआ करते थे। 'होली है' नामक निबंध में वह होली का वर्णन करते हुए लिखते हैं-

"अहा हा! आज होली है, नहीं नहीं भारत की भिक्षा की झोली है, नहीं नहीं क्षत्रियों की होली है- ..... भारत वर्ष के असभ्य प्रदर्शन को यह बेहूद: ठठोली है।"[1]

राधाकृष्ण दास जी ने भाषा की उन्नति की ओर भी ध्यान दिया। हिन्दी उनके लिए राष्ट्रीय एकता और समग्र विकास का माध्यम है। अपने 'हिन्दी क्या है' शीर्षक निबंध में वह कहते हैं कि देश की उन्नति के लिए भाषा की उन्नति आवश्यक है। उदाहरण दृष्टव्य है-

"इतिहासों से यह सिद्ध होगा कि किसी देश की उन्नति और समृद्धि की प्राप्ति बिना उस देश की भाषा की उन्नति के नहीं हुई है..... निदान जब तक देश भाषा हिन्दी में पूरी शिक्षा न दी जायगी, तब तक हिन्दी का उपकार असम्भव है।"[2]

1- राधाकृष्ण ग्रन्थावली: पृष्ठ 93

2- वही, पृष्ठ 77-78

उन्नीसवीं शताब्दी के अन्य निबन्धकारों में ठाकुर जगमोहन सिंह, तोताराम वर्मा, दुर्गा प्रसाद मिश्र, मोहन लाल विष्णु लाल पंड्या, केशवराम भट्ट, दामोदर शास्त्री सप्रे, कार्तिक प्रसाद खत्री, राम दास वर्मा, जगन्नाथ प्रसाद, राम कृष्ण वर्मा, फ्रेडरिक पिन्टाक, गोविन्द राम प्रभाकर, आदि की गणना भी की जा सकती है। जिन्होंने अपने न्यूनाधिक निबन्धों का प्रणयन किया। इस युग के निबंधकार प्राय· पत्रकार थे। इसलिए सामाजिक विषयों पर उनका विशेष ध्यान रहता था। इस युग की प्रायः सभी प्रमुख आर्थिक, सामाजिक, राजनीतिक, समस्याओं पर निबंधकारों ने अपनी पैनी दृष्टि डाली है। निबंधकारों का उद्देश्य अंग्रेजों के मुखौटे को उतारकर उनका वास्तविक रूप भारतीय जनता के समक्ष उजागर करना है जिससे राष्ट्रीय चेतना का प्रसार पूरे राष्ट्र एवं समाज के सभी वर्गो में हो सके तथा अंग्रेजों के विरुद्ध एक सशक्त राष्ट्रीय आन्दोलन की शुरुआत हो सके। उन्नीसवीं शताब्दी के सामाजिक, धार्मिक आन्दोलन जहाँ शहरी मध्यवर्ग तक सीमित था, वहीं ये निबंधकार एक प्रकार के ठेठ देशी लोकजागरण की नींव रख रहे थे इसमें समाज के सभी वर्गो- किसानों, मजदूरों एवं निम्न जातियों की भूमिका भी सुनिश्चित कर रहे थे। यद्यपि कुछ निबंधकारों के लेखन में कहीं-कहीं धार्मिक असहिष्णुता की झलक भी मिल जाती है किन्तु ऐसे प्रसंग बहुत ही कम हैं और इन प्रसंगों को लेखकों के धार्मिक विश्वासों का भावुकतापूर्ण प्रकटीकरण मानकर छोड़ना ही उचित होगा। निबंधकारों में आर्थिक स्वाधीनता, राजनीतिक स्वाधीनता और भाषा की मुक्ति के प्रश्नों को एक दूसरे से सम्बद्ध कर देखा है। भारतेन्दु जी इस लोक जागरण के मुखिया थे और लोकजागरण अपनी समग्रताओं में उनके लेखन में ही प्रकट हुआ है। परमानन्द श्रीवास्तव जी ने उचित ही कहा है-

"भारतेन्दु एक साथ सहज भारतीय और सचेत आधुनिक रचनात्मकता से सम्पन्न दिखाई देते हैं। इस बात को ठीक, ठीक समझने की जरूरत है कि भारतेन्दु सांस्कृतिक सुधारवादी पुनरुत्थान आन्दोलन के अनुयायी भर नहीं थे, वे एक प्रकार के ठेठ देशी लोक जागरण की नींव भी रख रहे थे।"[1]

1- भारतेन्दु और भारतीय नवजागरणः संपा0 शंभुनाथ, अशोक जोशी, पृष्ठ: 170

अध्याय- पाँच

उन्नीसवीं शताब्दी का लोकजागरण और उसका साहित्यिक स्वरूप:
निबंध विधा के विशेष सन्दर्भ में

'उन्नीसवीं शताब्दी का लोकजागरण और उसका साहित्यिक स्वरूप: निबन्ध विधा के विशेष सन्दर्भ में'

(1) भाषा

(2) शिल्प

साहित्य अपनी युग-चेतना से प्रभावित एवं प्रेरित होता है। 19वीं शताब्दी में जनचेतना पुनर्जागरण की भावना से अनुप्राणित थी। फलस्वरूप सामाजिक, सांस्कृतिक और राजनीतिक क्षेत्रों में न केवल अतिरिक्त सक्रियता थी, अपितु उन सब में गहन अन्त:सम्बन्ध विद्यमान था। तत्कालीन साहित्य पर इसका प्रभाव पड़ना स्वाभाविक था। इसकी परिणति विषय चयन में व्यापकता और विविधता के रूप में हुई। श्रृंगारिक रसिकता, रीति-निरूपण, प्रकृति का उद्दीपनात्मक चित्रण-प्रभृति रीतिकालीन प्रवृत्तियों का महत्व क्रमश. कम होता गया। मातृभूमि -प्रेम, स्वदेशी वस्तुओं का व्यवहार, गोरक्षा, बाल-विवाह निषेध, शिक्षा-प्रसार का महत्व, मद्य-निषेध, भ्रूण-हत्या की निन्दा आदि विषयों को साहित्यकार अधिकाधिक अपनाने लगे थे। राष्ट्रीय भावना का उदय भी इस काल की अनन्य विशेषता है।

इतने व्यापक विषयों का प्रस्तुतीकरण कविता के माध्यम से सम्भव नहीं था। परिणामत: गद्य साहित्य का विकास हुआ और ब्रजभाषा के स्थान पर खड़ी बोली साहित्य-सृजन का माध्यम बनी। यद्यपि उन्नीसवीं शताब्दी में काव्य के सृजन हेतु ब्रजभाषा का प्रयोग निर्बाध रूप से जारी रहा।

उन्नीसवीं शताब्दी में खड़ी बोली गद्य का आविर्भाव एवं विकास एक युगान्तरकारी घटना है। इसके माध्यम से साहित्य मनुष्य के वृहत्तर सुख-दु:ख के साथ वास्तविक रूप से जुड़ा। परिवार, समाज, राजनीति, देश, विदेश की चर्चा, दैनिक जीवन की घटनाएं

खड़ी बोली गद्य के माध्यम से व्यापक एवं सशक्त रूप में व्यक्त की जाने लगीं। साहित्यकार विविध गद्य विधाओं के माध्यम से जन-सामान्य तक अपना संदेश पहुँचाने लगे। नाटक ~~ओर~~ और निबंध इसके लिए सबसे उपयुक्त माध्यम सिद्ध हुए। परिणामतः इस युग में इन दोनों विधाओं को विशेष व्यापकता एवं प्रसिद्धि प्राप्त हुई। पत्र-पत्रिकायें इनका माध्यम बनीं। डा० राम विलास शर्मा के अनुसार-

"नाटक, सभा-संस्थाओं में भाषणों, पत्र-पत्रिकाओं में लेखों आदि के द्वारा लेखक जनता तक अपना सन्देश पहुँचा सके। इन सब में पत्र-पत्रिकाएं ही अधिक स्थायी और दूर-दूर तक पहुँचने वाला साधन थीं। हिन्दी में पत्र-पत्रिकाओं की कोई जीवित परम्परा न थी, परन्तु एकाएक उत्तर भारत में न जाने कितने नगरों से पत्रों की एक बाढ़ सी आ गयी। इसमें बहुत से कुछ महीने या कुछ वर्ष चलकर ठप हो गये। कुछ दीर्घकाल तक हिन्दी की सेवा करते रहे।"[1]

इसी प्रकार पत्र-पत्रिकाओं के महत्व को रेखांकित करते हुए डा० रामचन्द्र तिवारी लिखते हैं-

"पत्र-पत्रिकाओं का सम्बन्ध सीधे जन-जागरण से है। किसी प्रकार के अन्याय या पक्षपात का प्रतिकार करने के लिए जनता जब उठ खड़ी होती है तो उसे अपनी आवाज बुलन्द करने के लिए पत्र-पत्रिकाओं का सहारा लेना पड़ता है।"[2]

इसी कारण इस युग में लगभग सभी साहित्यकार किसी न किसी पत्र-पत्रिका से सम्बद्ध थे। पत्र-पत्रिकाओं के द्वारा वे अपनी बात जनता के समक्ष रख सकते थे। साहित्य की विविध विधाओं के विकास में पत्र-पत्रिकाओं की महत्वपूर्ण भूमिका रही

1- भारतेन्दु-युग और हिन्दी भाषा की विकास-परम्परा: डॉ0 राम विलास शर्मा, पृ0 23

2- हिन्दी सहित्य का इतिहास: संपा0 डा0 नगेन्द्र, पृष्ठ 49।

भारतेन्दु हरिश्चन्द्रः

भाषाः

भाषा कथ्य की अभिव्यक्ति का एक सहज एवं सशक्त माध्यम है। इस क्षेत्र में भारतेन्दु की प्रतिभा एक सर्जक, संग्राहक, सुधारक एवं प्रचारक के रूप में स्थापित है। उनके सर्जनात्मक रूप की पहचान गद्य-भाषा में उपलब्ध है। उन्होंने गद्य-भाषा का संस्कार करके जो नया रूप दिया उसे समकालीन साहित्यिकों ने 'हरिश्चन्द्री हिन्दी' की संज्ञा देकर सम्मान किया। वही 'हरिश्चन्द्री हिन्दी' साहित्य के अन्तर्गत अनेक रूपों में विकसित होकर आधुनिक हिन्दी भाषा के निर्माण में महत्वपूर्ण भूमिका अदा कर सकी।

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने अपने से पूर्ववर्ती हिन्दी गद्य की संस्कृति तत्सम् प्रधान तथा अरबी-फारसी और उर्दू शब्द मिश्रित भाषाओं में मध्यम मार्ग को अपनाया। उन्होंने भाषा में प्रवाह और अभिव्यक्ति को महत्व दिया। उन्होंने 1867 में 'कवि वचन सुधा' और सन् 1873 में 'हरिश्चन्द्र मैगजीन' के प्रकाशन के द्वारा हिन्दी को नई शैली प्रदान की। हिन्दी गद्य के क्षेत्र में यह एक दिशा-परिवर्तन था।

भारतेन्द ने स्वयं अपने नाटकों, निबंधों, लेखों और पत्रों में इस सामान्य शैली का प्रयोग किया। उनकी इस नवीन शैली की उल्लेखनीय विशेषता यह है कि विषय के अनुरूप वह सरल और गम्भीर दोनों प्रकार की है। हास्य-व्यंग्य प्रधान निबंधों में उनकी भाषा अत्यन्त सरल, स्वाभाविक, प्रवाहपूर्ण और प्रभावोत्पादक है। इस प्रकार की भाषा में उनका संस्कृत अथवा अरबी-फारसी के प्रति आग्रह नहीं है। भारतेन्दु ने अपनी 'लखनऊ-यात्रा' के संस्मरणों को अत्यन्त रोचक भाषा में लिखा है-

"कानपुर से लखनऊ आने के हेतु एक कम्पनी अलग है। इसका नाम अ0स0रे0 कम्पनी है। इसका काम अभी नया है और इसके गार्ड इत्यादिक सब काम चलाने वाले

हिन्दूस्तानी हैं। स्टेशन मकान्हपुर का तो दरिद्र सा है पर लखनऊ का अच्छा है। लखनऊ के पास पहुँचते ही मस्जिदों के ऊँचे कंगूर दूर से ही दिखते हैं। परन्तु नगर में प्रवेश करते ही एक बड़ी विपत आ पड़ती है। वह यह है कि चुंगी के राक्षसों का मुख देखना होता है। हम लोग ज्यों ही नगर में प्रवेश करने लगे जमदूतों ने रोका।"[1]

इसके विपरीत गवेषणापूर्ण, दार्शनिक भावपूर्ण, सांस्कृतिक विषयों से सम्बन्धित निबंधों में उनकी भाषा सरल,मधुर, भावमयी, गम्भीर और उदात्त है। 'हरिद्वार वर्णन' का एक प्रसंग द्रष्टव्य है-

"वर्षा के कारण सब ओर हरियाली ही दृष्टि पड़ती थी मानो हरे गलीचा की जात्रियों के विश्राम हेतु विछायत विछी थी। एक ओर त्रिभुवन पावनी श्री गंगाजी की पवित्र धारा बहती है जो राजा भगीरथ के उज्ज्वल कीर्ति की लता सी दिखाई देती है। जल यहाँ का अत्यन्त शीतल है और मिष्ट भी वैसा ही है मानों चीनी के पने बरफ में जमाया है, रंग जल का स्वच्छ और श्वेत है और अनेक प्रकार के जल जंतु कल्लोल करते हैं।"[2]

भारतेन्दु के निबंधों में भाषा के इस सामान्य पदविन्यास के अतिरिक्त दो विशिष्ट रूप भी मिलते हैं। कहीं पर तो संस्कृत की तत्सम पदावली अधिक प्रयुक्त हुई है तो कहीं पर उर्दू का शब्द समूह अपने चलते और अलंकृत दोनों रूपों में प्रयुक्त हुआ है। हरिद्वार के निम्नलिखित वर्णन की आलंकारिक शैली का पद-विन्यास संस्कृत-समन्वित है-

---

1- भारतेन्दु समग्रः संपा0 हेमन्त शर्मा, पृष्ठ 1034

2- वही, पृष्ठ 1034

"यह भूमि तीन ओर सुन्दर हरे हरे पर्वतों से घिरी है जिन पर्वतों पर अनेक प्रकार की बल्ली हरी-भरी सज्जनों के शुभ मनोरथों की भाँति फैलकर लहलहा रही है और बड़े-बड़े वृक्ष भी ऐसे खड़े हैं मानों एक पेर से खड़े तपस्या करते हैं और साधुओं की भाँति घाम, ओस और वर्षा अपने ऊपर सहते हैं। अहा! इनके जन्म भी धन्य हैं जिनसे अर्थी विमुख जाते ही नहीं।..... एक ओर त्रिभुवन पावनी श्री गंगाजी की पवित्र धारा बहती है जो राजा भगीरथ के उज्ज्वल कीर्ति की लता सी दिखाई देती है।"[1]

भारतेन्दु की उर्दू मिश्रित पदावली की छटा निम्नलिखित उद्धरण में दर्शनीय है-

"चारों ओर हरी हरी घास का फर्श, ऊपर रंग रंग के बादल, गड़हों में पानी भरा हुआ, सब कुछ सुन्दर। ...... साँझ के बक्सर के आगे बड़ा भारी मैदान, पर सब्ज काशनी मखमल से मढ़ा हुआ।........ राह में बाज पेड़ों में इतने जूगनू लिपटे हुए थे कि पेड़ सचमुच 'सर्व चिरागाँ' बन रहे थे।"[2]

इस उद्धरण में उर्दू पदावली का सम्मिश्रण अवश्य हुआ है, किन्तु किसी प्रकार की जटिलता नहीं आने पाई है। भारतेन्दु ने अपने निबंधों में कहीं-कहीं अंग्रेजी शब्दों का भी प्रयोग किया है। यथा-'स्वर्ग में विचार सभा का अधिवेशन' शीर्षक निबंध में कंसरवेटिव, मेमोरियल, डेप्यूटेशन आदि शब्दों का प्रयोग उल्लेखनीय है।

1- भारतेन्दु समग्र: संपा0 हेमन्त शर्मा, पृष्ठ 1033

2- वही

भारतेन्दु के निबंधों की भाषा विषय के अनुसार बदलती रहती है। विषय के अनुरूप उनकी भाषा सरल और गम्भीर दोनों प्रकार की है। भारतेन्दु के सम्पूर्ण निबंध-साहित्य को विषय की दृष्टि से मोटे तौर पर निम्न वर्गों में विभाजित किया जा सकता है-

1- साहित्यिक निबन्ध
2- धार्मिक विषयों से सम्बन्धित निबंध
3- पुरातत्व एवं ऐतिहासिक निबंध
4- जीवन-चरित विषयक निबंध
5- हास्य-व्यंग्य प्रधान निबंध
6- यात्रा-विवरण सम्बन्धी निबंध

उपरोक्त विभिन्न वर्गों के निबन्धों की भाषा का संक्षिप्त विवेचन समीचीन होगा।

(1) साहित्यिक निबंध:

भारतेन्दु मूल रूप से भावुक साहित्यकार थे। उन्होंने विविध साहित्यिक विषयों पर अनेक निबंध लिखे हैं। इनमें हिन्दी भाषा, जातीय संगीत, ग्रीष्म ऋतु, भारतवर्ष की उन्नति कैसे हो सकती है, कंकर स्तोत्र, अंग्रेजी स्तोत्र आदि विशेष उल्लेखनीय हैं।

इन निबंधों की भाषा अत्यन्त मधुर, सरस, प्रवाहमयी और भावपूर्ण है। लेखक का कवि व्यक्तित्व झलक पड़ता है। आलंकरिक, तत्सम् प्रधान शब्दावली का माधुर्य एक-एक वाक्य में उमड़ पड़ता है। उदाहरण द्रष्टव्य है-

"अहा हा यह भी कैसी भयंकर ऋतु है "ग्रीष्मो नामुर्तरभवन्नतिप्रेयांच्छरणां" इसमें प्रचण्ड मार्तण्ड अपनी घोर किरणों से स्थावर जंगम और जल सबका रस खींच

लेता है, जीते ही जीते सब निर्जीव हो जाते हैं। जीवन केवल जीवन में आ अटकता है और वह जल भी इस उग्र सूर्य से इस ऋतु में इतना डरता है कि प्रायः छोटी नदी और छोटे सरोवर तो शुष्क ही हो जाते हैं, कूपों में यद्यपि इतना नीचे छिपा रहता है कि सूर्य की दुखदाई किरण बाण वहाँ न पहुचे तो भी मारे डर के थर थर काँपता है।"[1]

(2) धार्मिक विषयों से सम्बन्धित निबन्धः

भारतेन्दु धार्मिक प्रवृत्ति के आस्थावान लेखक थे। उन्होंने कार्तिक कर्मविधि, माघ स्नान विधि, मार्गशीर्ष महिमा, वैष्णव सर्वस्व, भारत वर्ष और वैष्णवता, ईशू खृष्ट वा ईश कृष्ण, हिन्दी कुरान शरीफ, अष्टादश पुराण की उपक्रमणिका आदि धार्मिक निबंधों की रचना की। भारतेन्दु की धार्मिक रचनाओं में उनकी वैष्णव धर्म के प्रति गहरी आस्था व्यक्त हुई है। धार्मिक आडम्बरों, प्रपंचों पर व्यंग्य प्रहार किये गये हैं। इन निबंधों की भाषा अत्यन्त सरल, स्वाभाविक किन्तु कटाक्षपूर्ण और व्यंग्य प्रधान है। उसमें लेखक का क्षोभ और दुःख स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है। उदाहरण दृष्टव्य है -

"अनेक कोटि देवी देवताओं का महात्म्य, छोटी छोटी बातों में ब्रह्म हत्या का पाप और तुच्छ तुच्छ बातों में बड़े बड़े यज्ञों का पुण्य, अहं ब्रह्म का ज्ञान और मूलधर्म छोड़कर उपधर्मो में आग्रह ने भारत वर्ष से वास्तविक कार्यो का लोप कर दिया। जिस जगत् कर्ता ने हम लोगों को उत्पन्न किया, संसार के सुख दिये, बुरे भले का ज्ञान दिया और अपना सत् मार्ग दिखलाया उससे यहाँ की प्रजा विमुख होकर धर्मान्तरण में फँस गई।"[2]

1- भारतेन्दु समग्रः संपा० हेमन्त शर्मा, पृष्ठ 1052

2- वही, पृष्ठ 877

(3) पुरातत्व एवं ऐतिहासिक निबंधः

भारतेन्दु भारत की प्राचीन संस्कृति, धर्म, सभ्यता और इतिहास से बहुत प्रभावित थे। उन्होंने काश्मीर कुसुम, बादशाह दर्पण, महाराष्ट्र देश का इतिहास, दिल्ली का दरबार दर्पण, उदयपुरोदय आदि अनेक पुरातत्व एवं ऐतिहासिक महत्व की रचनाओं की सर्जना की। इन निबंधों में लेखक की भाषा शैली गवेषणापूर्ण है। इतिहास सुलभ, सरल, सहज, प्रवाहमय, सुबोध भाषा में अनुसन्धानपरक शैली का प्रयोग किया गया है-

"पहले कह आये हैं कि वाप्पा ब्राह्मणगण का गोचारण करते थे। उनकी पालित एक गऊ के स्तर में ब्राह्मणगण ने उपर्युपरि कियद्दिवस तक दुग्ध नहीं पाया, इससे संदेह किया कि वाप्पा इस गऊ का दोहन करके दुग्ध पान कर लेते हैं। वाप्पा इस अपवाद से अति क्रुद्ध हुए, किन्तु गऊ के स्तन में स्वरूपतः दुग्ध न देखकर ब्राह्मणगण के संदेह को अमूलक न कह सके। तत्पश्चात् स्वयं अनुसंधान करके देखाए कि यह गऊ प्रत्यह एक पर्वत गुहा में जाया करती थी और वहाँ से प्रत्यागमन करने से उस के स्तन पयःशून्य हो जाते हैं। वाप्पा ने गऊ का अनुसरण करके एक दिन गुहा में प्रवेश किया और देखा कि उस वेतसवन में एक योगी ध्यानावस्था में उपविष्ट हैं। उनके सम्मुख में एक शिवलिंग है और उसी शिवलिंग के मस्तक पर पयस्विनी का धवल पयोधर प्रचुर परिमाण से परिवर्तित होता है।"[1]

(4) हास्य-व्यंग्य प्रधान निबंधः

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र बड़े फक्कड़ प्रवृत्ति, विनोदी और परिहासप्रिय थे। वह धार्मिक, सामाजिक एवं राजनीतिक क्षेत्र में व्याप्त अराजकता, पाखण्ड, भेदभाव, अंधविश्वास

1- भारतेन्दु समग्रः संपा0 हेमन्त शर्मा पृष्ठ 689

और कुरीतियों के नितान्त विरोधी थे। वह देशवासियों में व्याप्त अशिक्षा, अज्ञान, प्रपंच जातिवाद तथा अनाचार से बहुत क्षुब्ध रहते थे। इसी प्रकार उनमें जातीय गौरव, देशभक्ति तथा मातृभाषा हिन्दी के प्रति गहन अनुराग था। उनमें स्वाभिमान कूट-कूट कर भरा था । इसीलिए जब कभी भी राष्ट्र, राष्ट्रभाषा, राष्ट्रीय गौरव का अपमान होते देखते थे, उनके स्वाभिमान को गहरा आघात पहुँचता था।

अंग्रेज अफसरों के दरबारों में राय साहब, खान बहादुर, राय बहादुर आदि खैराती पदवियों से विभूषित भारतीयों की दुर्दशा का वर्णन कितनी व्यंग्यपूर्ण शैली में किया गया है। "लेवी प्राण लेवी" का एक उदाहरण दृष्टव्य है-

"कोई खड़ा हो जाता था तो कोई बैठा ही रह जाता था। कोई घबड़ाकर डेरे के बाहर घूमने चला जाता था कि इतने में कोलाहल हुआ 'लाट साहब आते हैं'। राय नारायण दास साहिब ने फिर अपने मुख को खोला 'स्टैण्ड अप' (खड़े हो जाव)। सबके सब एक साथ खड़े हो गये। राय साहिब का 'सिट डौन' कहना तो सबको अच्छा लगा पर 'स्टैण्ड -अप' कहना तो सबको बुरा लगा मानों भले बुरे का फल देने वाले राय साहिब ही थे। इतने में फिर कुछ आने में देर हुई और फिर सब लोग बैठ गये। वाह वाह दर्बार क्या था 'कठपुतली का तमाशा', था या बल्लमटैरों की 'कवायद' थी या बंदरों का नाच था या किसी पाप का फल भुगतना था या 'फौजदारी की सजा थी।"[1]

(5) **यात्रा विषयक निबन्धः**

भारतेन्दु ने स्वयं देश के महत्वपूर्ण नगरों, प्राकृतिक स्थलों, तीर्थो और धार्मिक स्थानों की यात्रा की थी। उन्होंने अपने यात्रा-अनुभवों का अत्यन्त भव्य, विस्तृत, रोचक और सजीव वर्णन किया है। मेवाड़-यात्रा, जनकपुर-यात्रा, सरयूपार की यात्रा, वैद्यनाथ-

---

1- भारतेन्दु समग्रः संपा0 हेमन्त शर्मा, पृष्ठ 1030

यात्रा आदि रचनाओं में उन्होंने अपनी यात्राओं का विस्तृत विवरण दिया है। इन यात्रा विवरणों में प्रकृति के भव्य, मनोहर, आकर्षक दृश्यों का बड़ा रमणीय, रोचक और ~~और~~ काव्यात्मक वर्णन किया गया है। भारतेन्दु के निबंधों पर विचार करते हुए श्री केसरी नारायण शुक्ल ने लिखा है-

"इन यात्रा-सम्बंधी लेखों में भारतेन्दु का स्वच्छंद और अकृत्रिम स्वरूप खूब देखने को मिलता है। ऐसा प्रतीत होता है कि भारतेन्दु सब प्रतिबंधों को हटाकर घूमने निकले हैं और इसी प्रकार उनकी प्रतिभा और वाणी भी स्वच्छंद विचरण कर रही है। उनकी ऑंखें सब कुछ देखने को खुली हैं, उनके कान सब कुछ सुन रहे हैं, उनका विवेचनशील मस्तिष्क सतत जागरूक है और उनका संवेदनशील हृदय उन सब दृश्यों और वस्तुओं को ग्रहण करता है जिनमें वह रम सका है।"[1]

भारतेन्दु के यात्रा-विषयक निबंधों की भाषा सरल, सुबोध, काव्यात्मक तथा भावपूर्ण है। इनमें लेखक का कवि व्यक्तित्व झलक पड़ता है। हरिद्वार, मसूरी आदि के वर्णनों में लेखक की भावुकता सूक्ष्म निरीक्षण तथा अभिव्यंजना कला देखते ही बनती है:

"मुझे हरिद्वार का शेष समाचार लिखने में बड़ा आनन्द होता है। कि मैं उस पुण्यभूमि का वर्णन करता हूँ जहाँ प्रवेश करने ही से मन शुद्ध हो जाता है। यह भूमि तीन ओर सुन्दर हरे हरे पर्वतों से घिरी है जिन पर्वतों पर अनेक प्रकार की बल्ली हरी भरी सज्जनों के शुभ मनोरथों की भाँति फैलकर लहलहा रही है।"[2]

1- नागरी प्रचारणी पत्रिका (भारतेन्दु विशेषांक): वर्ष 55 संवत् 2007 अंक1-2, पृष्ठ 48

2- भारतेन्दु समग्रः संपा0 हेमन्त शर्मा पृष्ठ 1033

यात्रा वर्णनों में जहाँ प्राकृतिक-स्थलों की सुषमा, छवि और मनोरम सुन्दरता का आकर्षक चित्रण किया गया है, वहीं लेखक ने रेलगाड़ी की भीड़ अव्यवस्था, कुलियों का दुर्व्यवहार, खाने का अभाव, पानी की दुर्व्यवस्था आदि का बड़ा रोचक और यथार्थ चित्रण किया है। यात्रा की परेशानियों और रेलवे का प्रबंध का पर्दाफाश करते समय लेखक की भाषा शैली देखते ही बनती है:

"मार्ग में जो क्लेश हुआ वह अकथनीय है। एक तो मार्तण्ड की प्रचण्ड किरण से गाड़ी ऐसी उत्तप्त हो रही थी । यदि शरीर स्पर्श हो जाय तो यह भ्रम होता था कि फफोला तो नहीं पड़ गया, किसी प्रकार से चैन नहीं मिलता था। यदि एकाद बार खिड़की खुल जाती तो मुँह मानो प्रज्वलित अग्नि की ज्वाला से झौंस जाता। प्यास के मारे कंठ सूखा जाता था और मुख हे आखर नहीं निकलते थे। जो कहीं पानी मिलै भी तो अदहन के सहस।"[1]

यात्रा-विषयक निबंध भारतेन्दु के उल्लास, हास्य और व्यंग्य के पुट से सजीव हैं। बीच-बीच में मार्मिक चुटकुलों का समावेश भारतेन्दु की विशेषता है। इसी प्रकार वे मीठी चुटकियाँ लेते हुए और व्यंग्य कसते हुए अपने निबंध की मनोरंजकता बराबर बनाये रखते हैं। ट्रेन की शिकायत करते हुए और अंग्रेजों की धाँधली पर क्षोभ प्रकट करते हुए वे कहते हैं कि-

"गाड़ी भी ऐसी टूटी फूटी, जैसी हिन्दुओं की किस्मत और हिम्मत। इस कम्बख्त गाड़ी से औरे तीसरे दर्जे की गाड़ी से कोई फर्क नहीं, सिर्फ .... सचमुच अब तो तपस्या करके गोरी गोरी कोख से जन्म ले तब संसार में सुख मिलै।"[2]

1- भारतेन्दु समग्रः संपा0 हेमन्त शर्मा पृष्ठ 1036

2- वही, पृष्ठ 1042-43

शिल्पः

निबंध विधा का विकास कर उसे क्लासिकल गरिमा प्रदान करने का श्रेय भारतेन्दु को जाता है। उनके कुछ निबंध निबंध की सीमायें पार कर उपन्यास की सीमायें छूते हैं। जहाँ तक निरूपण के ढंग का प्रश्न है, निरूपण के ढंग के अनुसार उनके निबंधों की तथ्याथ्य निरूपक, शिक्षात्मक, विचारात्मक, वर्णनात्मक और कल्पनात्मक कोटियाँ बनाई जा सकती हैं। निरूपण के ढंग का निबंधों की भाषा-शैली पर भी प्रभाव पड़ा है। जैसे तथ्याथ्यनिरूपक, शिक्षात्मक तथा उपादेय निबंधों की भाषा-शैली में लेखक का ध्यान वस्तु-विषय के स्पष्टीकरण और प्रतिपादन की ओर अधिक है वाणी की वक्रता या वाणी के विलास की ओर कम है। इसी से भारतेन्दु के इस प्रकार के निबन्धों में भाषा संस्कृत या तत्सम पदावली से समन्वित तो अवश्य है, किन्तु उसमें अतिरंजना या अलंकरण नहीं है। इन निबन्धों को हम भारतेन्दु की प्रांजल का प्रसादपूर्ण शैली का उदाहरण कह सकते हैं।

भारतेन्दु के निबंधों में मुख्यतः विचार प्रधान, भावात्मक, वर्णनात्मक तथा हास्य-व्यंग्य आदि शैलियाँ परिलक्षित होती हैं। वस्तुतः विषय और परिस्थिति के अनुसार भारतेन्दु की गद्य-शैली का ढलाव बदलता गया है। विचारात्मक शैली में लिखे गये निबन्धों में 'संगीत सार' 'वैष्णवता और भारतवर्ष' 'ईशू खृष्ट और ईश कृष्ण' आदि प्रमुख हैं। विचारात्मक निबंध हृदय की अपेक्षा मस्तिष्क की वस्तु है, जिसमें तर्क चिन्तन, मनन और अध्ययन का अधिक सहारा लिया जाता है। इसीलिए इसमें बुद्धि तत्व की प्रधानता होती है। 'संगीत सार' निबंध में भारतेन्दु जी के गहरे संगीत ज्ञान का परिचय मिलता है। यह भारतेन्दु के उत्कृष्टतम विचारात्मक निबंधों में एक है। उदाहरण द्रष्टव्य है-

"गाना, बजाना, बताना और नाचना इसके समुच्चय को संगीत कहते हैं। प्राचीन काल में भरत, हनुमत, कलनाथ और सोमेश्वर यह चार मत संगीत के थे। कोई

कोई शारदा, शिव, हनुमत् और भरत यह चार मत कहते हैं। सात अध्यायों में यह शास्त्र बॅटा है। जैसे स्वर, राग, ताल, नृत्य, भाव, लोक, और हस्त। सम्यक् प्रकार से जो गाया जाय उसे संगीत कहते हैं। धातु और मातु संयुक्त सब गीत होते हैं। नादात्मक धातु और अक्षरात्मक मातु कहलाते हैं।"[1]

विचारात्मक निबंधों में यदि बुद्धि तत्व की प्रधानता होती है तो रागात्मक तत्व का सम्बन्ध भावात्मक निबंधों से है। भारतेन्दु युग में भावात्मक निबंध अपेक्षाकृत अधिक लिखे गये हैं। भावात्मक शैली में लिखे गये निबन्धों में 'समर्पण', 'सूर्योदय' तथा 'ईश्वर बड़ा विलक्षण है' आदि प्रमुख हैं। उनका 'सूर्योदय' नामक निबंध बहुत प्रसिद्ध है। उदाहरण द्रष्टव्य है-

"देखो! सूर्य का उदय हो गया। अहा! इसकी शोभा इस समय ऐसी दिखाई पड़ती है। मानो अंधकार को जीतने को दिन में यह गोला मारा है अथवा प्रकाश का यह पिण्ड है या आकाश में यह कोई बड़ा लाल कमल खिला है या लोगों के शुभाशुभ कार्य की खरीद का यह चक्र है अथवा चन्द्रमा के रथ का पहिया है। घिसने से लाल हो गया है अथवा काल के निलेप होने की सौगन्ध खाने का यह तपाया हुआ लोहे का गोला है।"[2]

भारतेन्दु युग में हास्य-व्यंग्य निबन्धों की प्रधानता रही है। इन निबंधों का उद्देश्य कोरा मनोरंजन नहीं है अपितु देश एवं समाज की वास्तविक स्थिति से जनता को परिचित कराते हुए उसका उद्बोधन है। देश की उन्नति इन निबन्धों का

1- भारतेन्दु समग्र: संपा0 हेमन्त शर्मा, पृष्ठ 104

2- भारतेन्दु युगीन निबंध: शिवनाथ, पृष्ठ 78

उद्देश्य है। 'एक अद्भुत अपूर्व स्वप्न', 'स्वर्ग में विचार सभा का अधिवेशन', 'लेवी प्राण लेवी', 'स्तोत्र पंचरत्न' आदि इस शैली में लिखे गये उत्कृष्ट निबंध हैं।

भारतेन्दु के निबंध 'एक अद्भुत अपूर्व स्वप्न' में व्यंग्य और हास्य निखरा हुआ है और शैली भी मजी हुई है। आरम्भ में गम्भीर शैली का आभास है और यह आभास देकर हास्य रस की सृष्टि की गयी है-

"देखो समय-सागर में एक दिन सब संसार अवश्य मग्न हो जायेगा। कालवश शशि सूर्य भी नष्ट हो जायेंगे।"

आगे स्वप्न में जैसे अतिरंजित बातें दिखाई देती हैं वैसे ही उन्हीं के अनुरूप अतिशयोक्तिपूर्ण इसकी शैली है-

आँख बन्द कर समाधि लगायी तो इक्सठ या इक्यावन वर्ष उसी ध्यान में बीत गये। पाठशाला बनाने का विचार करके जब थैली में हाथ डाला तो केवल ग्यारह गाड़ी ही मुहरें निकलीं। इष्ट मित्रों से सहायता ली तो इतना धन एकत्र हो गया कि ईटों के ठौर मुहर चुनवा देने पर भी दस-पाँच रेला रूपये बच रहते।"[1]

निबन्ध में उनका खूब मखौल उड़ाया गया है जो लोग विद्यालयों के नाम से चंदा इकट्ठा करके अपना पेट भरते हैं। कहीं-कहीं भारतेन्दु ने इतना सुन्दर शब्द चयन किया है कि कविता के समान वे पंक्तियाँ अमर सी हो गयी हैं। यथा-

"धन्य है उस परमात्मा को जिसने आज हमारे यश के डहडहे अंकुर फिर हरे किये।"[2]

1- भारतेन्दु युग और हिन्दी भाषा की विकास परम्परा: डा0 राम विलास शर्मा, पृष्ठ 72

2- वही, पृष्ठ 72

इस निबन्ध पर विचार करते हुए डा० राम विलास शर्मा ने लिखा है-

" एक अद्भुत अपूर्व स्वप्न' भारतेन्दु का उत्कृष्ट व्यंग्यपूर्ण निबन्ध है। वास्तव में यह एक काल्पनिक कहानी जैसा है, निबंध की सीमायें पार कर जाता है। भारतेन्दु की निबंध-कला उपन्यास-कौशल की सीमायें छूती हैं।"[1]

स्वप्न जैसा ढाँचा अपना अपनाकर भारतेन्दु ने एक दूसरा व्यंग्यपूर्ण निबंध 'स्वर्ग में विचार-सभा का अधिवेशन' लिखा है। हास्य और मनोरंजन के साथ अपनी कला से जनता को अपनी दशा के प्रति कैसे सचेत करना चाहिए, इसका उत्कृष्ट उदाहरण है यह निबन्ध।

भारतेन्दु के निबन्धों में 'प्रदर्शन शैली' के भी दर्शन होते हैं। जहाँ बिना किसी प्रयोज्य के, या किसी गूढ़ भाव या क्लिष्ट विचार की अभिव्यक्ति की विवशता उपस्थित हुए बिना ही, जान बूझकर भाषा के चलते रूप को छोड़कर अत्यधिक तत्सम प्रधान पदावली का प्रयोग हुआ है, वहाँ स्पष्ट प्रतीत होता है कि भारतेन्दु अपने भाषाधिकार का प्रदर्शन करना चाहते हैं। इस प्रकार की भाषा या पद-विन्यास को 'प्रदर्शन शैली' नाम दिया जा सकता है। 'उदयपुरोदय' नामक निबन्ध से उद्धरण द्रष्टव्य है-

"जन समागम से जोगी का ध्यान भंग हुआ, वाप्पा का परिचय जिज्ञासा करने से वाप्पा ने आत्म-वृत्तांत जहाँ तक अवगत थे विदित किया, योगी के आशीर्वाद ग्रहणान्तर उस दिन गृह में प्रत्यागत भए। अतः पर वाप्पा प्रत्यह एक बार योगी के निकट गमन करके उनका पादप्रक्षालन, पानार्थ पयः प्रदान और शिवप्रीति काय

1- भारतेन्दु हरिश्चन्द्र और हिन्दी नव-जागरण की समस्याएँ: डा० राम विलास शर्मा, पृष्ठ 106

होकर धतूरा, अर्क प्रभृति शिव-प्रिय वन पुष्प समूह चयन किया करते।"[1]

भारतेन्दु की 'प्रवाह शैली' भी उल्लेखनीय है। इसके वाक्य छोटे होते हैं और पद समूह में उर्दू, अंग्रेजी सभी के शब्द व्यवहृत होते हैं। उनके व्यंग्यात्मक निबन्धों में भी इसके दर्शन होते हैं। उदाहरण द्रष्टव्य हैं-

"कल सांझ को चिराग जले रेल पर सवार हुए, यह गए, वह गए। राह में स्टेशनों पर बड़ी भीड़ न जाने क्यों? और मजा यह कि पानी कहीं नहीं मिलता था। यह कम्पनी मजीद के खानदान की मालूम होती है कि ईमानदारों को पानी तक नहीं देती। या सिप्रस का टापू सरकार के हाथ आने से औ शाम में सरकार का बंदोबस्त होने से यह भी शामत का मारा शामी तरीका का अख्तियार किया है कि शाम तक किसी को पानी न मिले।"[2]

भारतेन्दु की वार्तालाप शैली उनकी आत्मकथा में देखने को मिलती है। बिलकुल बोलचाल की भाषा और अत्यन्त विश्वसनीय वातावरण। शब्द समूह सभी प्रकार के, किन्तु चलते हुए महावरों की छटा इसकी विशेषता है। इसमें भारतेन्दु पाठकों से बातचीत करते मालूम होते हैं। निम्नलिखित उद्धरण में खुशामदियों की दरबारदारी, उनकी बातचीत और उनकी मनोवृत्ति का जीता जागता और बोलता हुआ शब्द चित्र है-

"कोई कहता था आप से सुन्दर संसार में नहीं, कोई कसमें खाता था, आपसा पंडित मैंने नहीं देखा, कोई पैगाम देता था चमेली जान आप पर मरती हैं, आपके देखे

1- भारतेन्दु समग्र: संपा0 हेमन्त शर्मा, पृष्ठ 689

2- वही, पृष्ठ 1038

बिना तड़प रही हैं, कोई बोला हाय ! आपका फलाना कवित्त पढ़कर रात भर रोते रहे।"[1]

भारतेन्दु के निबंधों में पायी जाने वाली विविध शैलियों के विषय में यह ध्यातव्य है कि उपरोक्त शैलियों का किसी निबंध में आद्योपान्त निर्वाह नहीं हुआ है, एक ही निबंध में कई प्रकार के पद विन्यास देखने को मिल जाते हैं। एक जगह संस्कृत पदावली तो दूसरी जगह उर्दू की छटा और तीसरी जगह मुहावरों की छींटे। उमंगों की तरंगों में बहते हुए भारतेन्दु ने अपने मनोनुकूल भाषा को संवारा और सजाया है।

भारतेन्दु ने अपने निबन्धों के माध्यम से देश की जनता को सचेत किया। उनकी निबन्ध कला पर हम उचित ही गर्व कर सकते हैं। भारतेन्दु की निबन्ध कला के सन्दर्भ में डा0 राम विलास शर्मा का यह कथन द्रष्टव्य है -

"इस कला में यथार्थवाद का रंग है, कल्पना की उड़ान है, करुणा का स्वर है, तीखा व्यंग्य है और ठेठ कटूक्तियाँ भी हैं, भारतेन्दु के निबन्ध मानों हिन्दी जनता के चरित्र की सभी खूबियों के सबसे अच्छे चित्र हैं।"[2]

(2) बालकृष्ण भट्ट:

भाषा:

भट्ट जी में भाषा को व्यापक बनाने की विशेष जागरूकता दिखाई देती है। वे न तो शुद्ध संस्कृतवादी थे और न अतिशय मध्यमार्गी। वह ऐसी विचारधारा

1- भारतेन्दु समग्र: संपा0 हेमन्त शर्मा पृष्ठ 982

2- भारतेन्दु हरिश्चन्द्र और हिन्दी नवजागरण की समस्यायें: डा0 राम विलास शर्मा, पृष्ठ 110

के पत्रकार थे जो अधिक से अधिक अपनी बात को लोगों तक पहुँचाना चाहते थे और हिन्दी में उन शब्दों को प्रयोग द्वारा पचाने के पक्षपाती थे जिन्हें व्यापक क्षेत्र में समझा जाता है। इसीलिए जहाँ तक शब्द-चयन का प्रश्न है, ठेठ बोलचाल के शब्द, संस्कृत, अरबी-फारसी और अंग्रेजी के शब्द उनके गद्य में व्यापक रूप से प्रयुक्त हुए हैं। उदाहरण द्रष्टव्य हैं-

"वहीं हम हैं जिन्हें लड़की लड़कों के व्याह से इतनी फुरसत नहीं मिलती कि दूसरा काम करें। बस,इसी के लिए जन्मे हैं कि गन्दी सृष्टि बढ़ाते ही जॉय। औलाद को तामील बगैरह की तो चर्चा ही क्या? उनके लिए पेट भर अन्न न मुहैया कर सकें बला से।"[1]

भट्ट जी ने अपने निबन्धों में अंग्रेजी के शब्दों का भी व्यापक प्रयोग किया है। वस्तुतः उस समय अंग्रेजी राज्य के साथ-साथ अंग्रेजी सभ्यता और भाषा का भी विस्तार हो रहा था। उस समय एक नवीन समाज उत्पन्न हो रहा था। अतएव एक ओर तो हिन्दी शब्दकोश का अभाव और दूसरी ओर नवीन भावों के प्रकाशन की आवश्यकता ने उन्हें यहाँ तक उत्साहित किया कि स्थान-स्थान पर वे भावद्योतक की सुगमता के विचार से अंग्रेजी के शब्द ही उठाकर रख देते थे। यहीं तक नहीं, कभी-कभी शीर्षक तक अंग्रेजी के देते थे। अंग्रेजी के शब्दों को कभी-कभी उन्होंने देवनागरी लिपि में और कभी-कभी रोमन लिपि में ही रखा है। उदाहरण द्रष्टव्य है-

'विदेशी सभ्यता और विदेशी शिक्षा की तो यही चेष्टा थी कि इस पवित्र ज्ञान के खजाने को सर्वथा निर्मूल और नष्ट-भ्रष्ट कर डालें, किन्तु जो सत्य है उसका

1- भट्ट निबंधावली (पहला भाग): संपा० देवी दत्त शुक्ल, धनंजय भट्ट 'सरल' पृष्ठ-120

त्रिकाल में नाश नहीं होता। TRUTH IS ALWAYS TRUTH. दूसरे पूर्वज महर्षियों के तपोबल का प्रभाव और सत्य पर उनकी पूरी दृढता कैसे व्यर्थ हो सकती है? वे ही प्रद्योतित हृदयवाले जो पश्चिमी सभ्यता और शिक्षा से बहक महात्मा-ऋषियों के अनुभव और ज्ञान को 'नानसेन्स' कहने लगे थे, अब उसी को सत्य के पाने का द्वार मान रहे हैं।"[1]

भट्ट जी ने अपने निबन्धों में पूर्वी और ब्रजभाषा के शब्दों को प्रचलित रूप में ग्रहण किया है। स्थान-स्थान पर पूर्वी ढंग के 'समझाव-बुझाव' आदि प्रयोग तथा 'अधिकाई' जैसे रूप भी दिखाई पड़ते हैं। संस्कृत के श्लोकों एवं सूक्तियों का भी इनके निबंधों में व्यापक प्रयोग हुआ है। स्त्रीलिंग और पुल्लिंग का व्याकरण सम्मत नियम भी इनकी रचनाओं में टूटता मिलता है। यथा स्त्रीलिंग का पुल्लिंग, पुल्लिंग का स्त्रीलिंग, क्रियापदों में प्रायः 'ए' की जगह 'ऐ' का ब्रजभाषा संमत रूप, इनके प्रयोग में आया है। शब्दों के गढ़ने का भी काम इन्होंने किया है जैसे- सुंदराया,बेबनावट, सर्वत्र आदि-आदि। अपनी बातों को स्पष्ट करने के लिए 'तात्पर्य यह है', 'खुलासा संबका यही है' यह बार-बार कहते हैं और एक ही शब्द के अनेक पर्याय देते हैं जिससे कहीं-कहीं गति रुक जाती है।

शैली:

बालकृष्ण भट्ट की शैली में खरापन है। वे गम्भीर प्रकृति के व्यक्ति थे। इन्होंने 32 वर्षों तक 'हिन्दी प्रदीप' चलाकर देश और समाज के लिए अपूर्व साधना का उदाहरण हमारे सामने रखा। जीवन भर उन्हेंाने सच्चाई के लिए संघर्ष किया, फलस्वरूप समाज की विकृतियों को देखकर वे खीज उठते थे। इसीलिए उनकी शैली

1- भट्ट-निबंधावली (पहला भाग): संपा0 देवीदत्त शुक्ल, धनंजय भट्ट 'सरल' पृष्ठ-89

में कहीं-कहीं खीज और चिड़चिड़ापन है। उन्होंने अनेक विषयों पर निबंध लिखे हैं, इसलिए उनमें शैली-वैविध्य भी औरों से अधिक है।

इस समय के प्राय: सभी लेखकों में एक बात सामान्य रूप से पायी जाती है। वह यह कि सभी की शैलियों में उनके व्यक्तित्व की छाप मिलती है। पंडित प्रतापनारायण मिश्र और भट्ट जी में यह बात विशेष रूप से थी। उनके शीर्षकों और उनकी भाषा से ही यह स्पष्ट हो जाता है कि यह उन्हीं की लेखनी है। भट्ट जी की भाषा में मिश्र जी की अपेक्षा नागरिकता की मात्रा कहीं अधिक पाई जाती है। उनकी हिन्दी भी अपनी हिन्दी होती थी। इसमें बड़ी रोचकता एवं सजीवता थी। कहीं भी प्रतापनारायण मिश्र की ग्रामीणता की झलक उसमें नहीं मिलती। उनका वायुमण्डल साहित्यिक था, विषय और भाषा से संस्कृति टपकती है। उनकी रचनाओं में सर्वत्र मुहावरों का बहुत ही सुन्दर प्रयोग हुआ है। स्थान-स्थान पर मुहावरों की लड़ी सी गुथी दिखाई पड़ती है। इन सब बातों का प्रभाव यह पड़ा कि उनकी भाषा में क्रान्ति, ओज और आकर्षण उत्पन्न हो गया है। उनकी शैली में बनावटी रूप कहीं नहीं मिलता। उदाहरण द्रष्टव्य है-

"मनुष्य के जीवन की शोभा या रौनक चरित्र है। आदमी के लिए यह एक ऐसी दौलत है जिसे अपने पास रखने वाला कैसी ही हालत में हो समाज के बीच गौरव और प्रतिष्ठा पाता ही है वरन् सर्बो के समूह में जैसा आदर नेक चलन वालों का होता है वैसा उनका नहीं जो धन और विभव से सब भाँति रंजे-पुंजे और खुशहाल हैं। ऐसे को कोई ऊँचा सम्मान या बड़ी पदवी पाते देख किसी को कभी डाह या ईर्ष्या नहीं होती।"[1]

भट्ट जी की शैली की एक अन्य विशिष्टता भी उल्लेखनीय है। आज तो यह शैली पढ़े-लिखे वर्ग में आम प्रचलन में है तब तो इस शैली का प्रारम्भ हुआ

1- भट्ट-निबंध माला (भाग-2): पृष्ठ 32

था। अंग्रेजी शिक्षा के प्रसार के कारण आधुनिकता के दौर में अंग्रेजी शब्द मिश्रित खड़ी बोली हिन्दी के प्रयोग में भट्ट जी अग्रणी रहे। कुछ उदाहरण द्रष्टव्य हैं:-

"परन्तु उनमें INSTINCT (पशु बुद्धि) के सिवा REASON (विवेकबुद्धि) बिल्कुल नहीं हैं।"[1]

"ऐसे लोगों में यदि कोई इस ढंग का हुआ कि संसार के जितने काम जिसको कर्तव्य (DUTY) कहते हैं, करता ही है, किन्तु किसी एक बात में उसकी विशेष रुचि है....।"[2]

इस प्रवृत्ति के कारण भट्ट जी को 'कोष्ठक' का अत्यधिक प्रयोग करना पड़ा है। इसी कारण कुछ विद्वानों ने इन्हें कोष्ठक-प्रयोग का आविर्भावक माना है।

संक्षेप में हम कह सकते हैं कि उनके निबंधों में व्यंग्य-विनोद की तीक्ष्णता, व्यक्तित्व की गम्भीर छाप तथा व्यावहारिक सशक्त भाषा सर्वत्र विद्यमान है।

(3) प्रताप नारायण मिश्र:

भाषा:

यद्यपि प्रताप नारायण मिश्र ने खड़ी बोली, उसकी उर्दू शैली, ब्रज और अवधी में निबन्ध लिखे हैं। तो भी उनकी भाषा मूलतः खड़ी बोली है क्योंकि प्रताप नारायण ग्रन्थावली में एक-एक निबंध अवधी और ब्रजभाषा में मिलता है 'तिल' और 'लत' उर्दू के निबंध का उल्लेख मात्र बाल मुकुन्द-निबंधावली में मिलता है।

1- हिन्दी-प्रदीप- 10/4

2- भट्ट निबंधावली (पहला भाग): संपा0 देवी दत्त शुक्ल, धनंजय भट्ट 'सरल' पृष्ठ-120

मिश्र जी अपने निबंध परिमार्जित खड़ी बोली में लिखते हैं यद्यपि देशी भाषा के शब्द भी तद्भव रूप में उसमें आ जाते हैं। नागरी मुहाविरों और लोकोक्तियों के साथ ही साथ बैसवाड़ी मुहाविरे और शब्द भी आ जाते हैं। अरबी और फारसी के शब्दों से भी उन्हें परहेज नहीं है। अंग्रेजी के शब्द और मुहाविरों का प्रयोग करने में भी वे नहीं हिचकते। प्रायः मिश्र जी की भाषा पर ग्रामीणता के पुट का दोष लगाया जाता है, किन्तु वास्तव में वे इस सिद्धान्त के कायल थे कि बोलचाल की सहज भाषा में ही रचना की जानी चाहिए, इसलिए वे लोक में प्रचलित शब्दों का प्रयोग करते थे चाहे वे किसी भाषा के हों और उसका जैसा रूप लोक में प्रचलित था उसी रूप में उनको लिखते भी थे। इसीलिए संस्कृत पदावली व्यापक पैमाने पर उनके साहित्य में नहीं मिलती। उनकी भाषा में एक लोच, प्रवाह, उमंग थी। उनका साहित्य जनता के बीच से उत्पन्न हुआ, जनता के लिए था और शब्द श्रृंगार भी उन्होंने जनता से ही चुना। क्रियापद सम्बन्धी देशज प्रयोग भी उनमें मिलेंगे तो वह भी भाव को स्पष्ट रूप से प्रकट करने के लिए ही। लोक में प्रचलित मुहाविरे का यह प्रयोग द्रष्ट्व्य है-

"अरे भाई । धर्म और बात है और मतवालापन और और बात है। पर तुम समझते तो फूट और बैर तुम्हारे देश का मेवा क्यों हो जाता, जिसका यह फल है कि तुम- निबरे की जुइया सब के सर हज'- बन गए, अन्य देशियों की गुलामी करनी पड़ी।"[1]

क्रिया सम्बंधी देशज प्रयोग के निम्न उदाहरण द्रष्टव्य हैं-

"अब कौन कह सकता है कि सच्चा धर्मनिष्ठ अर्थात् प्रेमी हुए बिना कोई अपनी विद्यापि से किसी का उपकार कर सकैगा।"[2]

1- प्रतापनारायण ग्रन्थावली: संपा0 विजय शंकर मल्ल पृष्ठ 3

2- वही, पृष्ठ 21

अथवा

"रसायन विधा से जाना जाता है कि कुछ पदार्थ ऐसे हैं जो न्यून व अधिक सभी वस्तुओं में हुआ करते हैं।"[3]

मिश्र जी की मुहाविरेदार भाषा का उदाहरण द्रष्टव्य है-

"एक प्रकार की उपाधि सर्कार से मिलती है यदि उसकी भूख हो तो हाकिमों की खुशामद तथा गौरांगदेव की उपासना में कुछ दिन तक तन, मन, धन से लगे रहिए। कभी आपके नाम में भी सी0एस0आई0 अथवा ए0बी0सी0 से किसी अक्षर का पुछल्ला लग जायेगा अथवा राजा, राय बहादुर, खॉ बहादुर अथवा महामहोपाध्याय की उपाधि लग जायेगी।"[2]

पं0 प्रताप नारायण मिश्र बहुत लापरवाह लेखक हैं, उनके निबंधों में फारसी और संस्कृत के उद्धरण अक्सर अशुद्ध मिलते हैं, वाक्य प्रायः लम्बे और अविन्यस्त हो जाते हैं, व्याकरण सम्बन्धी त्रुटियॉ और एक देशीय प्रयोग बिखरे मिलते हैं। मिश्र जी प्रायः वह को वुह, पृथक को प्रथक, पतिव्रता को पतिवृता, प्रश्न को प्रष्ण, लेखनी को लेखणी आदि लिखते थे। व और ब में उनके यहॉ अभेद सम्बन्ध है। इसी तरह बोलचाल के ढर्रे पर वाक्यों की गुम्फित लड़ी तैयार करने और दूसरे ढंग का नियमोल्लंघन करने में भी वे बेहिचक हैं। संक्षेप में मिश्र जी के निबंधों में हिन्दी के आरम्भिक गद्य की सभी विशेषतायें मिलती हैं।

शिल्पः

शैली की दृष्टि से प्रतापनारायण मिश्र के निबंधों को मुख्यतः वर्णनात्मक, विचारात्मक, भावात्मक तथा हास्य और व्यंग्य की श्रेणियों में विभाजित किया जा सकता है।

1- प्रताप नारायण ग्रन्थावलीः संपा0 विजयशंकर मल्ल पृष्ठ 37

2- वही, पृष्ठ

﴾1﴿ वर्णनात्मक शैली:

वर्णनात्मक शैली में लिखे गये निबंधों का उद्देश्य वर्णविषय से पाठक का परिचय कराना होता है। इस परिचय को जीवंत तथा ग्राह्य बनाने के लिए रोचकता और सहृदयता की आवश्यकता होती है। ऐसे निबंध ज्ञान के प्रसार के लिए लिखे जाते हैं। ब्राह्मण में प्रकाशित इनके अधिकांश निबंध इसी कोटि के हैं। यथा- कचहरी में शालिग्राम जी, जरा अब तो आँखें खोलिए, कान्यकुब्जों ही की सबसे हीनदशा क्यों है, हिम्मत राखो एक दिन नागरी का प्रचार होईगा, बाल विवाह विषयक एक चीज आदि निबंध। इन निबंधों में उनका उपदेशक और समाज सुधारक रूप प्रखर रहा है। ये देश, धर्म, जाति और समाज को उन्नति की ओर ले जाना चाहते थे और सवदेशी धर्म, संस्कृति और उद्योग के उद्धारक के रूप में अपनी लेखनी का प्रयोग करते थे। वे समाज में व्याप्त फूट, कुरीतियों, भ्रष्टाचार , व्यभिचार की भर्त्सना करते थे। अपने निबंधों को सजीवन एवं प्रभावात्मक तथा स्वाभाविक ढंग से लिखते थे और सीधे विषय पर आ जाते थे। विषय को रुचिकर बनाने के लिए न केवल वे दृष्टांत और मुहावरों का प्रयोग करते थे या जोरदार आलंकारिक फुदकती भाषा लिखते थे अपितु बीच-बीच में यथावश्यकता छोटी मोटी कहानियाँ और ऐतिहासिक घटना को भी उपस्थित करते रहते थे जिससे विषय रोचक हो उठता था और उसका सहज प्रभाव भी पड़ता है। किन्तु ऐसा करते समय उनका सारा ध्यान उस विषय पर केन्द्रित् रहता है जिसका वे वर्णन कर रहे हैं। अपने कथ्य के प्रति आस्था उत्पन्न कर सकें, यह ममत्व उनके निबन्धों में प्रकट हुआ है। उदाहरण द्रष्टव्य है-

"वाह री समझ। धन्य ब्राह्मण देवता। भला जज्ज साहब तो विदेशी और विधर्मी थे, वह तो शालिग्रामजी की प्रतिष्ठा से अज्ञात थे, तुम्हारी समझ में क्या पत्थर पड़े कि इतना न सूझा कि जिनको ब्राह्मण लोग भी बिना स्नान किये नहीं छूते, दूसरी जाति तो दूर रही ब्राह्मणों तक की स्त्रियाँ स्पर्श तक नहीं कर सकतीं, उनको ईसाई, मुसलमानों के बीच में लाना कैसे उचित हो सकता है।"[1]

1- प्रताप नारायण-ग्रन्थावली: संपा० विजयशंकर मल्ल, पृष्ठ 11-12

(2) विचारात्मक शैली:

मिश्र जी ने विचारात्मक शैली के निबन्ध भी लिखे हैं। ऐसे निबंधों में उन्होंने अपने पक्ष में तर्क दिया है। अपनी बात की मान्यता के लिए दूसरें की बातों का खण्डन भी किया और प्रतिपादन में विश्लेषण का सहारा भी लिया है। ऐसे निबंधों में मिश्र जी की ज्ञानगरिमा का दर्शन होता है। ऐसे निबन्धों की भाषा प्रायः क्लिष्ट एवं नीरस होती है, फिर भीजहाॅ तक बन पड़ा है, उन्हेंने उनमें भी व्यंग्य एवं विनोद के सहारे रसवत्ता उत्पन्न करने का प्रयास किया है। ऐसे निबंधों में कुछ प्रमुख हैं- "हिम्मत राखो एक दिन नागरी का प्रचार होईगा', 'मतवालों की समझ' 'उर्दू बीबी की पूँजी', 'पादरी साहब का व्यर्थ प्रयास', 'मुनीनां च मतिभ्रमः', 'देवमंदिरों के प्रति हमारा कर्तव्य', 'पुलिस की निन्दा क्यों की जाती है?' आदि।

(3) भावात्मक शैली:

भावात्मक शैली में लिखे गये निबन्धों में अध्ययन की अपेक्षा रागात्मक वृत्तियाॅ अधिक उभड़कर भावावेश के साथ प्रकट होती हैं। इसमें विवेक, लाघव और रागात्मक सम्बन्ध कल्पना के सहारे भावपरक ढंग से प्रकट होते हैं। इसमें व्यक्तित्व की छाप विशेष रूप से उभड़कर आती है। भावात्मक सम्बन्ध व्यक्ति, वस्तु, देश, समाज, धर्म, संस्कृति और इतिहास किसी से भी हो सकता है। मिश्र जी ने शुद्ध भावात्मक निबन्ध देश, समाज और व्यक्ति को लेकर लिखे हैं। कहीं-कहीं भाषा, प्रेम और धर्म के प्रति भी उनकी भावुकता का उभार प्रकट हुआ है। ऐसी भावुकता 'रक्ताश्रु', 'वाजिद अली शाह', 'भारतेन्दु', 'शोक प्रकाश', देशदशा तथा मूर्तिपूजा सम्बन्धी निबन्धों में प्रखर रूप में मिलती है।

(4) हास्य एवं व्यंग्य शैली:

भारतेन्दु युग के प्रायः सभी लेखकों ने हास्य और व्यंग्य मूलक निबंध समाज, धर्म, प्रथा, स्वदेशी व्रत, व्यवहार की रूढ़ि, व्यक्तियों कि कृतियों और साहित्य आदि

पर लिखे हैं। इनका उद्देश्य संबद्ध तत्व और तथ्य के सम्बन्ध में सुधार की कामना थी। दैनिक व्यवहार के सहज विषयों को भी उन्होंने जीवन्त और सरस रूप से उपस्थित किया है। उनके कटु व्यंग्य यथार्थ पर आश्रित हैं। मिश्र जी के प्रमुख हास्य एवं व्यंग्य प्रधान निबन्ध निम्न हैं:-

'फूटी सहैं आँजी न सहैं', 'घूरे के लत्ता बिनै कनातन का डौल बाँधे,' 'कलिकोष', 'रूस और मूस', 'उरदू बीबी की पूँजी', 'मरै का मारैं साह मदार', 'हम राजभक्त हैं', 'खुशामद' , 'मारमार कहे जाओ नामर्द तो खुदा ही ने बनाया है', 'नारी' आदि।

मिश्र जी के विचारात्मक निबंध व्यास उद्धरण, समास, तर्क तथा अलंकार शैली में लिखे गये हैं। यद्यपि व्यास शैली की उनमें प्रधानता है तो भी अन्य शैलियों का प्रयोग यथास्थान उन्होंने किया है। भावात्मक निबंधों में तरंग, प्रलाप, व्यास तथा समास शैली के दर्शन होते हैं। जो निबंध विचारात्मक हैं उनमें प्रायः व्यास शैली ही मिलती है। मनोवृत्तियों और मनोविकारों पर लिखे गये निबन्धों में समास शैली का प्रयोग मिश्र जी ने किया है। व्यक्ति व्यंजक निबंधों में व्यास और समाज शैली के अतिरिक्त अलंकार शैली का प्रयोग भी मिश्र जी ने किया है।

मिश्र जी की सर्वोत्तम शैली वह है जिसमें हास्य, व्यंग्य, दृष्टांत और मुहाविरे अकृत्रिम रूप से आते हैं तथा लेखक और पाठक के बीच की दूरी समाप्त हो जाती है। यह उनकी विशिष्ट, स्वाभाविक, सुबोध एवं मौलिक शैली है और हिन्दी के निबन्धकारों में यह उनकी अकेली है। इनकी शैली में एक प्रकार का मनमौजीपन है। उनमें कटुता नहीं है। विनोदपूर्ण वक्रता, बैसवाड़ी बोली की सहज ग्रामीण स्वच्छता ने उनकी शैली को अत्यन्त सजीव बना दिया है। मिश्र जी गम्भीर से गम्भीर विषय को भी हास्य-रंजित करके प्रस्तुत करने की कला में अद्वितीय थे। उन्होंने ग्राम्य कहावतों और मुहावरों का खुलकर प्रयोग किया है। वे बराबर अपने पाठक से तादात्म्य बनाये रखते हैं-

"ले भला बताइये तो आप क्या हैं? आप कहते होंगे, वाह, आप तो आप ही हैं। पर कहाँ की आपदा आयी? यह भी कोई पूछने का ढंग है? पूछा होता कि आप कौन हैं? तो बतला देते कि हम आपके पत्र के पाठक हैं और आप ब्राह्मण सम्पादक हैं, अथवा आप पण्डित जी हैं, आप राजा जी हैं, आप सेठ जी हैं, आप लालाजी हैं, आप बाबू जी हैं, आप मियाँ साहब, आप निरे साहब हैं।"[1]

मनोरंजक निबंध-रचना को प्रताप नारायण मिश्र ने चरम सीमा तक पहुँचा दिया। उनके निबंधों में मनोरंजन का बाहुल्य है और शैली में भी सामयिक गद्य के गुण और दुर्गुण भारी मात्रा में विद्यमान हैं। लिखने में लापरवाही उनमें औरों से अधिक है। इसीलिए व्याकरण आदि के दोष उनमें सरलता से मिल जाते हैं। पाठकों का मनोरंजन करना मिश्र जी का ध्येय अवश्य है परन्तु सामाजिक समस्याओं के प्रति उन्हें सचेत करना भी वह नहीं भूले। 'दाँत' या 'भौंह' पर बहुत सी बहकी बातें करने के बाद वह अपने निबंध में देश के लिए बहुत कुछ कह जाते हैं। यथा -'भौंह' नामक निबंध में भौंह के सौन्दर्य वर्णन के बाद वे कहते हैं-

"यद्यपि हमारी धन, बल, भाषा इत्यादि सभी निर्जीव से हो रहे हैं तो भी यदि हम पराई भौहें ताकने की लत छोड़ दें, आपस में बात-बात पर भौंहें चढ़ाना छोड़ दें, दृढ़ता से कटिबद्ध होके वीरता से भौहें तान के देश-हित में सन्नद्ध हो जायें, अपने देश की बनी वस्तुओं का, अपने धर्म का, अपनी भाषा का, अपने पूर्व पुरुषों का रुजगार और व्यवहार का आदर करें तो परमेश्वर अवश्य हमारे उद्योग का फल दे। उससे सहज भृकुटि-विलास में अनन्त कोटि ब्रह्माण्ड की गति बदल जाती है, भारत की दुर्गति बदल जाना कौन बड़ी बात है।"[1]

---

1 - प्रताप नारायण-ग्रन्थावली: संपा0 विजयशंकर मल्ल, पृष्ठ: 99

(4) पं0 बदरी नारायण चौधरी 'प्रेमघन':

भाषा:

भारतेन्दु युगीन निबंधकारों में 'प्रेमघन' का महत्वपूर्ण स्थान है। वे गद्य को कला के रूप में मानने वाले और उसी रूप में उसका प्रयोग करने वाले कला उपासक थे। यद्यपि व्यंग्य और विनोद उनके जीवन का अंग था किन्तु कलात्मक और सजग गद्यकार होने के कारण वे अनुप्रास और अलंकारों से भरी हुई फुदकती भाषा में लिखते थे। इनका वाक्य विन्यास लम्बे समास पदों से बनता था जिसमें संस्कृत के तत्सम शब्दों का व्यापक प्रयोग मिलता है। वे अनुप्रास और अलंकार की छटा सामान्य से सामान्य विषयों में प्रकट करना नहीं छोड़ते थे किन्तु उनका यत्न यह होता था कि भाव सुस्पष्ट बना रहे इसलिए अपनी लेखनी को भी माँजते भी थे। कहीं-कहीं पंडिताऊपन भी इनकी भाषा में मिलता है और कला के अतिरूप उपासना के कारण भाव लम्बे वाक्य विन्यास में खोते हुए मिलते हैं। उदाहरण द्रष्टव्य है-

"हाय ! यह जो परोपकार महाव्रत वरञ्च केवल जन साधारण से ले, केवल कुछ शारीरिक श्रम कर अनन्त पुण्य और यश का भागी होना, विरक्तों- जिस अर्थ में कि इस शब्द का प्रयोग आजकल होता है- का कार्य था। उसमें कहीं उनका नाम नहीं सुन पड़ता, वरञ्च ईश्वर की दया से अपना उचित कर्तव्य विचार कर केवल कुछ गृहस्थ अपने समस्त कार्यो की हानि उठाकर इसमें बद्धपरिकर हुए निःस्वार्थ भाव से तत्पर लखाते हैं।"[1]

शैली:

प्रेमघन की शैली अन्य सभी लेखकों से भिन्न है। इन्हेंाने अपने गद्य को कलात्मक बनाने की चेष्टा की है। उनके वाक्य लम्बे हैं और भाषा समासगढ़ी हुई

1- प्रेमघन-सर्वस्व (द्वितीय भाग): संपा0 प्रभाकेश्वर प्रसाद उपाध्याय, पृष्ठ 529

है। उनमें कवित्व है, लेकिन सहज भावोच्छ्वास नहीं। सीधी-सी बात को भी वे कलात्मक विधान के साथ प्रस्तुत करते हैं। उनमें संस्कृत भाषा की पद रचना के संस्कार प्रबल हैं, उदाहरण द्रष्टव्य हैं-

"धन्य-धन्य उस परब्रह्म सच्चिदानन्द धन को कि जिसकी कृपा बारि बिन्दु वर्षा से आनन्द प्रमत्त हो अचानक आज फिर यह मनमयूर उत्साह आलम्बन कर आनन्द कादम्बिनी को आनन्द विस्तार लालसा से थिरकने लगा, और बिना किसी सोच-विचार के लेखनी चालक बन चँहकार चली, कि मेरे प्यारे रसिक। आओ आज के समागम में चिरवियोग दु.ख को भूलें और बहुत दिनों से मानवती बैठी वार्ता बधूटी के आरम्भ घूँघट को खोल उसके आनन्द मन्दस्मित स्वारस्य अनुभव करें।"[1]

(5) राधा चरण गोस्वामी:

राधाचरण गोस्वामी नाटककार तथा उपन्यासकार के अतिरिक्त अच्छे निबंधकार थे। उनमें देश-भक्ति और समाज-सुधार की भावना कूट-कूटकर भरी थी। निबन्ध के क्षेत्र में वह भारतेन्दु के अनुयायी थे। गोस्वामी जी के निबंध प्रायः विवरणात्मक शैली में लिखे गये थे। उनके निबंधों में 'पूर्णिमा का चन्द्रोदय', 'आर्यशब्द', 'रेलवे स्तोत्र', 'यमपुर की यात्रा' आदि प्रमुख हैं। 'पूर्णिमा का चन्द्रोदय' गद्यकाव्य की शैली में लिखा गया निबंध है।

"यमपुर की यात्रा' स्वप्न शैली में लिखा गया श्रेष्ठ निबन्ध है। इसमें हास्य-व्यंग्य का अच्छा पुट मिलता है। इस निबंध से गोस्वामी जी के प्रगतिशील विचारों का परिचय मिलता है। इस निबंध में उन्होंने तत्कालीन रूढ़ियों और अंधविश्वासों पर तीखा व्यंग्य किया है। यथा-

---

1- प्रेमघन-सर्वस्व: संपा0 प्रभाकेश्वर प्रसाद उपाध्याय, पृष्ठ: 483

"साहब प्रथम प्रश्न तो सुन लीजिए, गौदान का कारण क्या? यदि गौ की पूँछ पकड़कर पार उतर जाते हैं तो क्या बैल से नहीं उतर सकते? जब बैल से उतर सकते हैं तो कुत्ते ने क्या चोरी की?"[1]

ठाकुर जगमोहन की गणना भारतेन्दु युग के प्रमुख निबंधकारों में होती है। आप लालित्य शैली के लेखक थे। इनके निबंध वर्णनात्मक शैली की कोटि में आते हैं, जिनमें भावुकता का भी अच्छा मिश्रण है। संस्कृत का ज्ञान होने के कारण शायद इनकी भाषा तत्सम प्रधान हो गयी है। 'श्यामा स्वप्न' इनकी प्रमुख गद्य रचना है। लेखक के समकालीन साहित्यकार पं0 अम्बिका दत्त व्यास ने 'श्यामा स्वप्न' को गद्यकाव्य की संज्ञा दी है।

इन निबंधकारों के अतिरिक्त श्री निवास दास, तोताराम, केशव भट्ट , अम्बिका दत्त व्यास, काशीनाथ खत्री और राधाकृष्ण दास आदि अन्य लोगों ने निबंध के विकास में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई और उसे विविध विषयों की अभिव्यक्ति में सक्षम बनाने में अपना महत्वपूर्ण योगदान देकर तत्कालीन हिन्दी निबंध को समृद्ध किया। शैली-विकास की दृष्टि में इतनी सजीवता परवर्ती युग में नहीं देखी गयी।

19वीं शताब्दी के लोकजागरण का प्रभाव गद्य की अन्य विधाओं पर भी पड़ा। भारतेन्दु युग में पूरे देश में सांस्कृतिक जागरण की लहर दौड़ चुकी थी। देश में साहित्यकार यह अनुभव करने लगे थे कि सभी दृष्टियों से हमारा देश अत्यन्त हीनावस्था में है और जीवन के सभी क्षेत्रों में सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक, राजनीतिक- में परिवर्तन और सुधार की आवश्यकता है। इन्होंने अपने निबंधों, नाटकों, उपन्यासों, कहानी आदि के माध्यम से समग्र जागरण का संदेश जनता के बीच प्रसारित किया। निबंधों के अतिरिक्त

1- राधाचरण गोस्वामी की चुनी रचनायें: संपा0 कर्मेन्दु (प्रथम संस्करण 1990ई0) पृष्ठ 28

नाटकों को भी इस दिशा में उल्लेखनीय सफलता एवं लोकप्रियता प्राप्त हुई।

सामयिक उपादानों को लेकर लिखे गये निबंधों में भारतेन्दु कृत 'भारत-दुर्दशा' बालकृष्ण भट्ट कृत 'नई रोशनी का विष', अम्बिकादत्त व्यास कृत 'भारत सौभाग्य', राधाकृष्ण कृत 'दु:खिनी बाला', गोपालराम गहमरी कृत 'देश-दशा', काशीनाथ खत्री कृत 'विधवा विवाह' उल्लेखनीय हैं। इन नाटकों में देश की तत्कालीन दुर्दशा का चित्र खींचा गया है और समाज की समस्याओं को प्रत्यक्ष करके उनके मूल में काम करने वाली बुराइयों को दूर करने की प्रेरणा दी गयी है।

इस युग में अनेक सफल प्रहसनों की रचना की गयी। भारतेन्दु-कृत 'अंधेर नगरी', बालकृष्ण भट्ट कृत 'जैसा काम वैसा परिणाम', प्रताप नारायण मिश्र कृत 'कलिकौतुक रूपक' और 'राधाचरण गोस्वामी कृत -बूढ़े मुँह मुँहासे' उल्लेखनीय प्रहसन हैं। इनमें हास्य-व्यंग्यपूर्ण शैली में धार्मिक पाखण्डों का खण्डन हुआ है और सामाजिक राजनीतिक बुराइयों पर प्रहार किये गये हैं। इन नाटकों में खड़ी बोली का बहुत ही सुन्दर प्रयोग हुआ है । नाटकों की भाषा सरस और चुटीली है, संस्कृत गर्भित न होकर वह अपने में ब्रजभाषा की मिठास लिए हुए है। लोकजीवन के शब्दों एवं मुहावरों के व्यापक प्रयोग से नाटकों की भाषा दर्शकों के लिए सहज बोधगम्य है और अभिनेताओं के लिए प्रतिभा की सम्भावनाओं से युक्त है। इस युग के उपन्यासों एवं कहानियों में भी देश में नवजागृति लाने का प्रयास मिलता है।

जहाँ तक निबन्धों का सवाल है, भारतेन्दु युग में हिन्दी निबन्धों का प्रवर्तन हुआ। समकालीन पत्र-पत्रिकाओं के माध्यम से इस गद्य विधा का अच्छा प्रचार-प्रसार हुआ। इस युग में सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक, धार्मिक तथा साहित्यिक आदि विविध विषयों पर निबन्ध लिखे गये। इस युग में निबन्ध रचना की प्राय: सभी प्रमुख शैलियों-

वर्णनात्मक, भावात्मक, विचारात्मक, विवरणात्मक- का सूत्रपात हुआ। हास्य-व्यंग्य शैली को विशेष लोकप्रियता प्राप्त हुई। भाषा और शैली विकास की दृष्टि से इतनी विविधता और इतनी सजीवता परवर्ती किसी युग में दृष्टिगत नहीं होती।

अध्याय-छः

उ प सं हा र

अध्याय-षष्टम्

उपसंहार

इतिहास इस बात का साक्षी है कि जब किसी युग की परिस्थितियाँ बहुत जटिल और संघर्षशील हो जाती है तब कुछ ऐसे महापुरुषों का अवतरण होता है जो अपनी प्रतिभा से युग में नवचेतना और शक्ति उत्पन्न कर देते हैं, फलस्वरूप युग एक नया मोड़ ले लेता है। उन्नीसवीं शताब्दी के भारत का इतिहास जहाँ राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक एवं साहित्यिक सभी क्षेत्रों में अत्यन्त अशान्ति और अव्यवस्था का इतिहास है, वहीं उस समय अनेक दुर्लभ प्रतिभाओं के भी दर्शन होते हैं, जिन्होंने इस युग में क्रान्ति उपस्थित कर इतिहास की दिशा ही परिवर्तित कर दी। जिस प्रकार राजा राममोहन राय, स्वामी दयानन्द सरस्वती, रामकृष्ण परमहंस और स्वामी विवेकानन्द, एनी बेसेन्ट आदि सांस्कृतिक जागरण के तथा गोखले, तिलक राजनीतिक जागरण के प्रतिनिधि थे, उसी प्रकार वांगमय के क्षेत्र में बंकिम चन्द्र, शरतचन्द्र, रवीन्द्र नाथ टैगोर और भारतेन्दु नवजागरण के अग्रदूत थे। भारतेन्दु ने अपने प्रभावशाली व्यक्तित्व और नेतृत्वकारी कृतित्व से एक युग का प्रतिष्ठापन ही नहीं किया अपितु उसे नवचेतना से सम्पन्न करते हुए गौरवशाली बना दिया। हिन्दी साहित्य में इस काल खण्ड को "भारतेन्दु युग" की संज्ञा से विभूषित करना सर्वथा विवेकपूर्ण है।

वस्तुतः उन्नीसवीं शताब्दी का अन्तिम चरण अत्यन्त महत्वपूर्ण रहा है। परिवर्तन की प्रक्रिया बड़े द्रुतगति से वेगमान हुई है। 1857 के विप्लव ने देश-प्रेम की चेतना को राष्ट्रीय स्तर पर परिव्याप्त कर दिया। सुयोग से भारत के सांस्कृतिक मंच पर ईश्वरचन्द्र विद्यासागर , केशवचन्द्र सेन, महादेव गोविन्द रानाडे, स्वामी दयानन्द सरस्वती, विवेकानन्द, गोखले और तिलक जैसे नेताओं का अवतरण हुआ और सम्पूर्ण राष्ट्र एक नवज्योति की आभा से मण्डित होने लगा। मध्ययुगीन जड़ता का त्यागकर राष्ट्र आधुनिक युग में प्रवेश कर समग्र जागरण की उषा के स्पष्ट दर्शन करने लगा।

अब प्रश्न उठता है कि लोक जागरण क्या है? और उन्नीसवीं शताब्दी को विशेष रूप से भारतेन्दु-युग को 'पुनर्जागरण' के अभिधान से इंगित करना उचित होगा

या कि 'लोकजागरण' के अभिधान से। 'लोकजागरण' अपने व्यापक अर्थ में 'जनजागरण' का पर्याय है। वह जन सामान्य के समग्र जागरण को इंगित करता है। असमंजस की स्थिति तब उत्पन्न होती है जब हम 'लोक' को अंग्रेजी शब्द 'फोक' (FOLK) के अर्थ में ग्रहण करने लगते हैं । सन् 1953 में प्रकाशित इन साइक्लोपीडिया ब्रिटैनिका' में 'फोक' शब्द का अर्थ ग्रामीण जन समुदाय किया गया है जिसमें कृषक आदि ग्रामवासी सम्मिलित हैं। इसमें केवल वही लोग माने जायेंगे जो नागरिक संस्कृति तथा विधिवत शिक्षा के प्रभाव से परे हों, जो गाँवों में तथा आस-पास निवास करने वाले निरक्षर या बहुत कम पढ़े लिखे हों।

भारतीय वाङ्मय में 'लोक' शब्द को व्यापक अर्थ में ग्रहण किया गया है। लोक की सीमा ग्राम या देहात या साधारण जन तक सीमित नहीं है- बल्कि समस्त चराचर जगत ही लोक है। या यों कह लें कि वह सारा लोक है जो परलोक नहीं है। अर्थात् समस्त दृश्य जगत ही लोक के अर्थ में समाया हुआ है। डा0 हजारी प्रसाद द्विवेदी ने भी 'लोक' शब्द को संकुचित अर्थ में न ग्रहण कर व्यापक अर्थ में ग्रहण किया है। उनके अनुसार- "लोक शब्द का अर्थ जनपद या ग्राम्य नहीं है बल्कि नगरों और ग्रामों में फैली हुई वह समूची जनता है जिनके व्यवहारिक ज्ञान का आधार पोथियाँ नहीं हैं। ये लोग नगर में परिष्कृत, रुचि-सम्पन्न तथा सुसंस्कृत समझे जाने वाले लोगों की अपेक्षा अधिक सरल और अकृतिम जीवन के अभ्यस्त होते हैं और परिष्कृत रुचि वाले लोगों की समूची विलासिता- सुकुमारिता को जीवित रखने के लिए आवश्यक वस्तुएँ उत्पन्न करते हैं।"[1]

इसी प्रकार संत साहित्य में 'लोक' शब्द का प्रयोग परलोक एवं इहलोक के अतिरिक्त जन सामान्य के अर्थ में ही हुआ है-

---

1- विचार एवं वितर्क· डा0 हजारी प्रसाद द्विवेदी: 1954
पृ0 206 (नवीन संस्करण)

'लोक वेद कुल की मरजादा, इहै गले में फासी।[1]

लोका जानिन भूलो भाई।

खालिक खलक खलक मैं खालिक, सब घट रह्यौ समाई।।[2]

अतः स्पष्ट है कि हिन्दी शब्द 'लोक' और अंग्रेजी शब्द 'लोक' (FOLK) में तात्विक दृष्टि से पर्याप्त अन्तर है। भारतीय वाङ्मय में लोक शब्द का प्रयोग सामान्यतः जन सामान्य के अर्थ में हुआ है जबक अंग्रेजी 'लोक' शब्द से समाज के अपेक्षाकृत पिछड़े, अशिक्षित तथा नागरिक संस्कृति से अछूते लोगों का बोध होता है। अत. कहा जा सकता है कि हिन्दी 'लोक' की परिधि अंग्रेजी 'फोक' से कहीं अधिक व्यापक है। अत 'लोक' के अर्थ को भारतीय वांगमय के सन्दर्भ में ग्रहण करना ही समीचीन होगा।

'लोक जागरण' अपने व्यापक अर्थ में जन-जागरण का पर्याय है। किसी उत्पीड़ित सामाजिक पहचान के द्वारा अपना ऐसा प्रबल आत्म-रेखांकन- जिसके कारण शाश्वत, बल्कि दिव्य मान ली गयी मान्यताओं और संस्थाओं पर पुनर्विचार और समूचे समाज द्वारा आत्ममंथन का माहौल बन जाये- लोक जागरण की सूचना देता है। जीवन को निर्धारित करने वाले आस्थागत मूल्यों का पुनर्परीक्षण , इसमें से कुछ को स्वीकारना और कुछ को नकारना ही लोक जागरण का अर्थ होता है।

लोकजागरण समग्र जागरण है, राष्ट्रीय चिन्तन से व्यक्ति चिन्तन तक। भारतीय संस्कृति और परम्पराओं में क्या उत्कृष्ट है और क्या निकृष्ट है? इसका निर्धारण ही लोक जागरण है। पारम्परिक संस्कृतियों की विकृतियाँ और विसंगतियों को दूर कर तथा परम्पराओं में जो कुछ भी श्रेष्ठ है, उसे आत्मसात करके 'नये' को समायोजित

1- कबीर ग्रन्थावली: संपा0 डा0 श्याम सुन्दर राय पृ0 98

2- वही, पृ0 81

कर एक समग्र सांस्कृतिक विकल्प के रूप में उभरना ही लोक जागरण है। चूंकि लोकजागरण जन सामान्य का समग्र जागरण है। अतः वह जन सामान्य की भाषा में ही सम्भव है, इसीलिए लोकजागरण का सबसे सशक्त माध्यम है लोक भाषा। लोक जागरण अपनी परिधि में जन सामान्य के सामाजिक धार्मिक राजनीतिक एवं साहित्यिक सांस्कृतिक जागरण को समेटे हुए है।

19वीं शताब्दी में भारतीय नवजागरण की दो धाराएँ मिलती हैं। एक धारा पाश्चात्य सभ्यता एवं संस्कृति से पूर्णतः प्रभावित है। उसका झुकाव साम्राज्यवाद की ओर है। इस नवजागरण के कर्ता-धर्ता समाज के विभिन्न वर्ग के लोग थे और इसका प्रभाव मुख्यतः शहरी मध्यवर्ग तक सीमित था। ये भारतीय समाज एवं धर्म में सुधार के सभी आधार साम्राज्यवादी परम्परा में तलाशते थे। जबकि नवजागरण की दूसरी धारा भारतीय परम्परा की साम्राज्यवादी परम्पराओं से टकराहट की है। यह धारा साम्राज्यवादी आधुनिकीकरण के प्रति सम्मोहन का विरोध करती हैं किन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि यह धारा अतीतवादी या आधुनिकता विरोधी है। इसका दृढ़ विश्वास है कि पाश्चात्य सभ्यता एवं संस्कृति के अंधानुकरण से देश का पश्चिमीकरण (WESTERNIZATION) होगा, आधुनिकीकरण नहीं। इसके अनुसार आधुनिकता के मुख्य आधार मानव विवेक, वैज्ञानिक दृष्टिकोण एवं मानवतावादी किसी समाज या देश को तभी आधुनिक बना सकते हैं जब इनका उस समाज के सन्दर्भ में स्वाभाविक रूप से विकास और विवेकपूर्ण उपयोग हो। भारत में आधुनिकता अंग्रेजी नहीं बल्कि संस्कृत या हिन्दी के माध्यम से आ सकती है। नवजागरण की इसी दूसरी धारा के सामाजिक आधार में साधारण मध्यमवर्ग और किसानवर्ग के लोग शामिल थे। तथा इसका प्रभाव भी सुदूर गाँवों तक व्याप्त था। इसका मुख्य लक्ष्य भारतीय जनता का समग्र जागरण था अतः इसे 'लोकजागरण' कहना समीचीन होगा। भारतेन्दु जी ने नवजागरण की इस धारा का प्रवर्तन किया। प्रख्यात आलोचक डा0 शंभुनाथ ने नवजागरण के इन दोनों धाराओं का अन्तर स्पष्ट करते हुए उचित ही लिखा है-

"भारतीय नवजागरण की एक धारा अगर भारतीय परम्परा पर साम्राज्यवादी परम्पराओं के प्रभुत्व की है तो दूसरी धारा भारतीय परम्परा की साम्राज्यवादी परम्पराओं से टकराहट की है। एक को हम एकांगी नवजागरण कहेंगे। यह ध्यान में रखना चाहिए कि नवजागण की दूसरी धारा अनिवार्यतः अतीतवादी या आधुनिकता विरोधी नही थी, सच्ची आधुनिकताओं को इसने अपनाया तथा रूढ़ अतीत को केंचुल की तरह उतार फेंका।"[1]

उन्नीसवीं शताब्दी के हिन्दी लोकजागरण में राष्ट्रभक्ति के साथ-साथ राजभक्ति के तत्व भी अनुस्यूत हैं। किन्तु इससे यह निष्कर्ष निकालना अनुचित होगा कि तत्कालीन साहित्यकार अंग्रेजी राज के समर्थक थे। वस्तुतः तत्कालीन परिस्थितियों में साहित्यकार अंग्रेजी राज की खुलकर आलोचना नहीं कर सकते थे। यदि वे ऐसा प्रयास करते तो कठोर प्रेस एक्ट के तहत उनका साहित्य और प्रेस जब्त कर लिया जाता और उन्हें तरह-तरह से प्रताड़ित किया जाता। परिणामत· साहित्यकार ऊपर से ब्रिटिश शासन और महारानी विक्टोरिया की प्रशंसा करते थे और इस प्रशंसा की आड़ में वे अंग्रेजों के शोषण, अत्याचार, मक्कारी तथा धूर्तता की कलई खोलते थे उनकी पुलिस, कचहरी, कानून, शिक्षा-व्यवस्था आदि की धज्जियाँ उड़ाते थे। प्रख्यात आलोचक डा0 शंभुनाथ ने भारतेन्दु के सन्दर्भ में इसे स्पष्ट करते हुए लिखा है-

"भारतेन्दु ऐसे अवसर खोजते रहते थे, जब महारानी विक्टोरिया की उदारता और क्षमता की प्रशंसा की आड़ में साथी भारतवासियों की वास्तविक हालत और ताकत की बखान करें। इनके वर्तमान दुःखों , क्षमताओं तथा ऐतिहासिक गौरव-चिन्हों को भाव-विह्वल होकर गिनाने का कोई अवसर वह खोते नहीं थे।"[2]

1- भारतेन्दु और भारतीय नवजागरण, संपा0 शंभुनाथ, अशोक जोशी, पृ0 21।

2- भारतेन्दु और भारतीय नवजागरण, संपा0 शंभुनाथ, आशोक जोशी, पृ0 23

यही स्थिति उस युग के अधिकांश साहित्यकारों की थी।

उन्नीसवीं शताब्दी के लोक जागरण का हिन्दी साहित्य पर व्यापक प्रभाव पड़ा। उसने मानवेतर एवं सामंती अथवा अभिजात वर्गीय शक्तियों से अपना नाता तोड़कर सामान्य इन्सान से अपने रिश्ते को जोड़ा। भारतेन्दु युग के ठीक पूर्व का रीतिकालीन साहित्य लोक जीवन से पूर्णतः कटा हुआ था। रीतिकवियों ने अपनी काव्यप्रतिभा केवल श्रृंगार वर्णन और राजाओं की स्तुति में ही खर्च की थी। भारतेन्दु तथा उनके सहयोगियों की वास्तविक महत्ता इसी बात में निहित है कि उन्होंने साहित्य को उक्त संकीर्ण सीमा के घेरे से बाहर निकाला तथा उसे सामान्य मनुष्य के जनजीवन से जोड़ा। इससे साहित्य के विषयवस्तु में काफी व्यापकता आयी। चूँकि इनकी अभिव्यक्ति केवल काव्यरूपों में ही सम्भव नहीं थी परिणामतः हिन्दी गद्य की अनेक विधाओं का आविर्भाव हुआ। ब्रजभाषा के स्थान पर खड़ी बोली प्रमुख साहित्यिक भाषा बनी। इस युग में हिन्दी निबन्ध एवं नाटक विधा का विशेष विकास हुआ।

भारतेन्दु युग में सबसे अधिक सफलता निबन्ध लेखन में प्राप्त हुई। निबन्धों का सम्बन्ध पत्र-पत्रिकाओं से सीधे जुड़ा हुआ था। वस्तुतः अन्य गद्य-विधाओं में विचारों को सीधे व्यक्त करने की छूट नहीं होती, जबकि निबन्धों में शैली के आकर्षण एवं कथन की भंगिमा के वैशिष्ट्य को बनाये रखकर भी किसी विषय पर सीधे बात की जा सकती है। इस युग के सभी निबंधकारों का सम्बन्ध किसी न किसी पत्र-पत्रिका से था। उनका उद्देश्य, उपदेश, उद्बोधन, आह्वान, हास्य-व्यंग्य आदि अनेक माध्यमों से जनता को शिक्षित और प्रबुद्ध करना था। निबन्धकारों का ध्यान सबसे पहले सामाजिक धार्मिक कुरीतियों की ओर गया।

19वीं शताब्दी का भारतीय समाज एक ऐसा संधिकाल था जहाँ से भारतीय जीवन और समाज में नये परिवर्तनों की परम्परा आरम्भ हो जाती है। भारत में ब्रिटिश सत्ता की स्थापना के साथ पाश्चात्य सभ्यता और विचारधारा भारतीय जन-जीवन को प्रभावित करने लगी। समाज पतन की ओर जा रहा था और उसकी नवसृजन की शक्ति

प्रायः लुप्त हो चुकी थी। देश के लिए यह एक चिन्ताजनक संकट का समय था। एक ओर तो पुरातनपंथी समुदाय प्राचीन परम्पराओं और रूढ़ियों से चिपका था और वह प्रत्येक परिवर्तन का विरोध करता था तो दूसरी ओर अंग्रेजी शिक्षा प्राप्त भारतीयों का एक ऐसा वर्ग था जो भारतीय संस्कृति को हेय दृष्टि से देखता था और पश्चिम की प्रत्येक बात को गौरव की वस्तु समझता था। यह वर्ग भारतीय सामाजिक एवं धार्मिक जीवन को निरर्थक बताकर उसकी अवहेलना करता था तथा पाश्चात्य सभ्यता एवं संस्कृति का अंधानुकरण कर रहा था। अनेक उच्च शिक्षा प्राप्त हिन्दू हिन्दू-धर्म छोड़कर ईसाई हो रहे थे। जनता के लिए दुर्भाग्य का विषय था कि राजनीतिक पराजय अब धीरे-धीरे सामाजिक और धार्मिक पराजय में परिणत होती जा रही थी। ऐसे वातावरण में अनेक आन्दोलनों का प्रादुर्भाव हुआ जो इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि यदि देश की काया से नैराश्य की केंचुली उतार फेंकनी है तो सामाजिक धार्मिक लोकाचारों में मौलिक परिवर्तन करने की आवश्यकता है। ब्रह्म समाज, आर्य समाज, रामकृष्ण मिशन, थियोसोफिकल सोसाइटी आदि ऐसे ही आन्दोलन थे। इसके अलावा ईश्वरचन्द्र विद्यासागर, बी0एम0 मालाबारी, दादा भाई नौरोजी, ज्योतिबा फुले, नारायण गुरू आदि ने भी सामाजिक-धार्मिक कुरीतियों को दूर करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। उपरोक्त आन्दोलनों एवं व्यक्तियों से उस युग के साहित्य काफी प्रभावित हुए।

इन साहित्यकारों ने साहित्य का इस्तेमाल समाज को बदलने की शक्ति से सम्पन्न एक कारगर हथियार के रूप में किया परिणामतः उनके साहित्य में सती-प्रथा, विधवा विवाह, बाल विवाह, मद्यपान , भ्रूण हत्या, समुद्रयात्रा-निषेध, जातिभेद, छुआछूत आदि से सम्बन्धित तद्‌युगीन ज्वलंत सामाजिक समस्याओं का निरूपण हुआ है। चूंकि पत्रकारिता देश की धड़कन होती है और यह सामाजिक-सांस्कृतिक जागरण का सबसे सशक्त माध्यम है इसीलिए इस युग के लगभग सभी साहित्यकार किसी न किसी पत्र-पत्रिका से सम्बद्ध रहे। सामाजिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक, धार्मिक आदि समस्याओं से सम्बन्धित इनके निबंध विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित होते रहे हैं।

उन्नीसवीं शताब्दी में बाल विवाह का अत्यधिक प्रचलन था। इस समय पाँच-सात वर्ष की कन्याओं का विवाह कर दिया जाता था। इस कुरीति के कारण दुर्बल सन्तानें होने लगीं। युवावस्था तक पहुँचते-पहुँचते स्त्री की सम्पूर्ण शक्ति भी समाप्त होने लगती थी। बड़ी आयु के बर होने के कारण विधवाओं की संख्या भी बढ़ने लगी। इस युग के सभी निबंधकारों ने बाल-विवाह का तीव्र विरोध किया। भारतेन्दु जी "भारत वर्ष की उन्नति कैसे हो सकती है' नामक निबन्ध में कहते हैं:-

"लड़कों को छोटेपन ही में व्याह करके उनका बल-वीर्य, आयुष्य मत घटाइए। आप उनके माँ, बाप हैं या उनके शत्रु हैं। वीर्य उनके शरीर में पुष्ट होने दीजिए, विद्या कुछ पढ़ लेने दीजिए, नोन, तेल, लकड़ी की फिक्र करने की बुद्धि सीख लेने दीजिए, तब उनका पैर काठ में डालिए।"[1]

बाल विवाह के सदृश्य ही विवेच्य युग में अनमेल विवाह का भी बहुत प्रचलन था। धन के अभाव के कारण लोग अपनी अल्पायु कन्याओं को भेड़-बकरियों के समान बेच देते थे। कई लोग कन्याओं को बेचते तो नहीं थे लेकिन कन्यादान करके अपना जन्म सुधारने की भावना से अनमेल वर के साथ कन्या का विवाह कर देते थे। इस युग के प्राय: सभी निबन्धकारों ने अनमेल विवाह की निन्दा की है।

बाल विवाह और अनमेल विवाह के प्रचलन के कारण विवेच्य युग में वैधव्य की समस्या और अधिक बढ़ी। उन्नीसवीं शताब्दी में विधवाओं की दशा अत्यन्त शोचनीय थी। इस युग के समाज सुधारकों ने स्त्रियों की इस अभिशप्त दशा पर अत्यन्त करुणा से दृष्टि निक्षेप किया। तत्कालीन सजग निबन्धकारों भारतेन्दु , प्रतापनारायण मिश्र, प्रेमघन, राधाकृष्ण दास, काशीनाथ खत्री आदि सभी ने इस समस्या को लेकर अनेक

1- भारतेन्दु ग्रन्थावली, तृतीय भाग: ब्रजरत्न दास पृ0 90

निबन्ध लिखे तथा विधवा पुनर्विवाह का समर्थन किया। विधवाओं की कारुणिक स्थिति को छोड़कर प्रेमधन जी ने (विधवा विपत्ति वर्षा) नामक निबन्ध में शास्त्रों के प्रमाण देकर विधवा पुनर्विवाह का औचित्य सिद्ध किया है लेकिन इसमें वह अवस्था और इच्छा को सर्वोपरि महत्व देते हैं:-

" मेरा तात्पर्य यह नहीं कि जिसका पति मर जाय सभी का..... चाहे वह अस्सी वर्ष की बुढ़िया क्यों न हो..... पुनर्विवाह कर दिया जाय । किन्तु यह अवस्था और इच्छा की बात है, केवल इसी का रोक टोक अवश्य उठ जानी चाहिए क्योंकि देखिये, सुलोचना अपने पति इन्द्रजित के साथ सती हो गयी, पर मन्दोदरी ने विभीषण को पति करके भी आनन्द से जीवन व्यतीत किया,इसी रीति सुग्रीव से तारा ने सगाई किया।"[1]

भारतेन्दु एवं उनके सहयोगी पं0 बालकृष्ण भट्ट पं0 प्रतापनारायण मिश्र, प्रेमधन आदि निबन्धकारों ने स्त्री शिक्षा एवं उसके समुचित विकास पर विशेष बल दिया। इस युग के निबंधकारों का विचार था कि पुरुष चाहे कितना भी उन्न हो जाए। लेकिन जब तक नारी की दशा नहीं सुधरेगी तब तक देश की उन्नति नहीं हो सकती। इसीलिए उन्होंने स्त्री-शिक्षा के लिए जनता को प्रोत्साहित किया। इसके लिए उन्होंने अनेक निबंध लिखे। भारतेन्दु ने "बालबोधिनी" नामक पत्रिका का प्रकाशन नारी जाति के उत्थान के लिए ही किया। उन्होंने लोगों को समझाया कि लड़कों के समान ही लड़कियों को भी पढ़ाना चाहिए। उदाहरण दर्शनीय है।

"लड़कियों को भी पढ़ाइए, किन्तु उस चाल से नहीं जैसे आज कल पढ़ाई जाती है। जिससे उपकार के बदले बुराई होती है। ऐसी चाल से उनको शिक्षा दीजिए कि वह अपना देश और कुलधर्म सीखे, पति की भक्ति करें और लड़कों को सहज शिक्षा दें।"[2] इसके अतिरिक्त भारतेन्दु ने घर-घर जाकर भी लोगों को स्त्री शिक्षा का महत्व समझाया।

1- प्रेमधन सर्वस्व, द्वितीय भाग पृ0 189

2- भारतेन्दु ग्रन्थावली, तृतीय भाग, व्रजरत्नदास पृ0 90

विवेच्य युग के अधिकांश निबंधकारों ने दहेज प्रथा, पर्दाप्रथा, बहुपत्नीत्व की प्रथा, सतीप्रथा, अंधविश्वास, जाति-पाँति और छुआछूत आदि की निन्दा की तथा इन कुरीतियों के विरुद्ध अपने निबंधों के माध्यम से जनमत तैयार किया। तत्कालीन परिस्थितियों में उनके सामाजिक जागरण का यह स्तुत्य प्रयास निश्चय ही सराहनीय है।

19वीं शताब्दी के निबंधकारों के हृदय में पराधीनता के कारण बड़ी पीड़ा थी। वे देश को दासत्व के बन्धन से मुक्त देखना चाहते थे। उन्होंने भारतीय जनता में देश-प्रेम और भाषा-प्रेम जागृत करने के लिए अनेक पत्रिकाओं का सम्पादन किया। यथा भारतेन्दु ने 'कविवचन सुधा', 'हरिश्चन्द्र मैगजीन', 'बालाबोधिनी' तथा 'भागवत तोषिनी' आदि पत्रिकाओं का सम्पादन किया। 1868 ई0 में 'कविवचन सुधा' का प्रकाशन एक ऐतिहासिक घटना थी। इसमें राजनैतिक, सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक तथा यात्रा सम्बन्धी निबंध-नाटक एवं कविताएँ प्रकाशित होती थीं। भारतेन्दु ने उक्त पत्रिकाओं के माध्यम से हिन्दी गद्य के विविध रूपों का विकास तो किया ही साथ ही हिन्दी प्रदेश की जनता को सामाजिक एवं सांस्कृतिक जीवन में क्रान्तिकारी परिवर्तन ला दिया था। भारतेन्दु की प्रेरणा से पूरा 'भारतेन्दुमण्डल' इस दिशा में उनके पीछे चल पड़ा।

भारतेन्दु की रचनाओं में हमें प्रायः देश भक्ति और राजभक्ति की भावनाएँ साथ चलती हुई और आपस में मेल रखती हुई जान पड़ती है। जिसे दृष्टिगत कर अनेक आलोचकों ने भारतेन्दु पर अंग्रेजी हुकूमत का समर्थक (राजभक्त) होने का आरोप लगाया है। किन्तु व्यापक सन्दर्भो में देखने पर ये आरोप निराधार लगते हैं। यद्यपि भारतेन्दु तथा उनके समकालीन लेखकों ने कई जगह अंग्रेजों की और अंग्रेजी राज की प्रशंसा की है। इस सन्दर्भ में हमें यह याद रखना चाहिए कि भारतेन्दु युग के लेखक अंग्रेजी राज की आलोचना अंग्रेजी कानून की सीमाओं के भीतर ही कर सकते थे, उनके पास गैर कानूनी गुप्त पत्रिकायें नहीं थीं कि उनमें जो चाहते वह लिखते। अतः ब्रिटिश शासन के कोपभाजन से बचने के लिए कहीं-कहीं उन्होंने अंग्रेजी राज की प्रशंसा कर दी है। डा0 शम्भुनाथ ने उचित ही कहा है-

"भारतेन्दु और उनके युग की यह राजभक्ति महज एक खोल है जिसे इन लेखकों ने ब्रिटिश शासकों को उनका असली चेहरा दिखाने के लिए ओढ़ा है।"[1]

जिस राष्ट्रभक्ति की परिकल्पना हम आज करते हैं वह भारतेन्दु युग में सम्भव नहीं थी। क्योंकि जो व्यक्ति या संगठन ब्रिटिश शासन के उन्मूलन की मांग उस समय करते उन्हें निर्दयतापूर्वक कुचल दिया जाता। यही कारण है कि भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस भी अपनी स्थापना से 20वीं शताब्दी के प्रारम्भिक वर्षों तक ब्रिटिश शासकों का गुणगान करती रही, फिर भारतेन्दु से हम अपने युग के अनुरूप राष्ट्रीयता की मांग कैसे कर सकते हैं।

राष्ट्रीय जागरण की प्रथम परमावश्यक शर्त है जातीय और धार्मिक एकता। भारतेन्दु जी देश की दुर्दशा का प्रमुख कारण आपसी फूट एवं धार्मिक विद्वेष को मानते हैं। वे स्पष्ट देख रहे थे कि अंग्रेज 'बॉटो और राज करो" की नीति अपना रहे हैं। तत्कालीन राजनीतिक परिस्थिति पर 'अंधेर नगरी' में भारतेन्दु जी ने बहुत ही सटीक व्यंग्य किया है।

प्रहसन की एक पात्र 'कुजड़िन' बेर और फूट बेचती हुई कहती है...- ले हिन्दुस्तान का मेवा फूट और बेर।"[1] यही 'फूट और बेर' सदियों से भारतीयों की पराधीनता का प्रमुख कारण रहा है। भारतेन्दु जी का दृढ़ विश्वास था बिना इस 'फूट' और 'बेर' को मिटाए किसी भी प्रकार का राष्ट्रीय जागरण सम्भव नहीं है। इसीलिए वे बलिया वाले भाषण में भारतीयों की एकता का आह्वान करते हुए कहते हैं-

---

1- भारतेन्दु और भारतीय नवजागरण· संपा0 शम्भुनाथ
अशोक जोशी, पृ0 64

2- भारतेन्दु समग्रः संपा0 हेमन्त शर्मा, पृ0 351

"भाई हिन्दुओ। तुम सभी मतमतांतर का आग्रह छोड़ो। आपस में प्रेम बढ़ाओ। इस महामंत्र का जप करो। जो हिन्दुस्तान में रहे, चाहे किसी रंग किसी जाति का क्यों न हो, वह हिन्दू है। हिन्दू की सहायता करें। बंगाली, मरट्ठा, पंजाबी, मदरासी, वैदिक जैन , ब्राह्मो, मुसलमान सब एक का हाथ एक पकड़ो।"[1]

इस कथन पर शंभुनाथ जी उचित ही बहुत सटीक टिप्पणी की है-

"हिन्दी प्रदेश में राष्ट्रीय एकता की यह पहली उद्घोषणा है,जिसमें साम्राज्यवाद विध्वंस की अतिभीषण राजनैतिक, वैचारिक शक्ति छिपी हुई है।"[2]

भारतेन्दु जी राष्ट्रीय एकता के इस पावन आह्वान में दलितों, पिछड़ों का स्मरण करना नहीं भूले हैं जिससे स्पष्ट होता है कि लोकजागरण का जो स्वप्न भारतेन्दु जी देख रहे थे वह एकांगी न होकर समग्रतावादी थी जिसकी परिधि शहरों ही नहीं सुदूर गॉवों तक भी व्याप्त थी-

"यह समय इन झगड़ों का नहीं। हिन्दू 'जैन' मुसलमान सब आपस में मिलिए। जाति में कोई ऊॅच हो, नीच हो सबका आदर कीजिए, जो जिस योग्य हो उसको वैसा मानिए। छोटी जाति के लोगों का तिरस्कार करके उनका जी मत तोड़िए। सब लोग आपस में मिलिए।"[3]

उपरोक्त मत का प्रतिपादन भारतेन्दु युग के अन्य निबंधकारों के निबंधों में हुआ है। 'देशोन्नति' नामक निबंध में पंडित प्रतापनारायण मिश्र ने पारस्परिक सौहार्द्र एवं सहयोग को लोकजागरण एवं राष्ट्र की प्रगति का मूलमंत्र माना है-

---

1- भारतेन्दु समग्रः संपा0 हेमन्त शर्मा, पृ0 1013

2- भारतेन्दु और नवजागरणः संपा0 शंभुनाथ, आशोक जोशी, पृ0 43

3- भारतेन्दु समग्रः संपा0 हेमन्त शर्मा, पृ0 1013

"वह अभ्युदय कब होगा? तभी न। जब पंडित महराज की विद्या, ठाकुर साहब का बल, लाला जी के रूपये, महतो भाई के हाथ-पॉव परस्पर एक-दूसरे के कार्य साधन करेंगे? चारों एकत्रित कब होंगे? जब सबके अंतःकरण प्रेम से पूर्ण हो जायंगे।"[1]

साम्प्रदायिकता राष्ट्र की उन्नति में सबसे बड़ी बाधा है। साम्प्रदायिकता से राष्ट्रीय एकता का क्षरण होता है, राष्ट्र की एकता और अखण्डता को गम्भीर खतरा उत्पन्न हो जाता है। अमन चैन खण्डित होने से देश की प्रगति बाधित होती है। इस युग के अनेक निबन्धकारों ने साम्प्रदायिकता की निन्दा की है। प्र0 प्रतापनारायण नारायण मिश्र ने साम्प्रदायिकता की निन्दा करते हुए कहा था-

"महाशय, देशोन्नति का बड़ा भारी बाधक तो मत ही है। जब तक उसका भ्रमजाल लगा है तब तक सुख स्वरूप प्रेमदेव से भेंट कहाँ? किसी मत का अगुवा कब चाहे कि मेरे अतिरिक्त दूसरे की बात जमे।"[2]

19वीं शताब्दी में भारत की आर्थिक स्थिति अत्यन्त दयनीय थी। बार-बार अकाल पड़ता था जिसमें लाखों लोग भूखों मर जाते थे। इस भुखमरी का कारण अंग्रेजों की गलत आर्थिक नीति थी जिसके माध्यम से वे भारत का निरन्तर आर्थिक शोषण कर रहे थे। उनकी इन्हीं नीतियों के कारण भारत जो हस्त-शिल्प के मामले में विश्व में सबसे अग्रणी था, 19वीं शताब्दी तक ब्रिटेन की वस्तुओं का आयातक देश बन चुका था। लाखों शिल्पकार बेरोजगार हो गये थे और कृषि पर भार बढ़ गया था। इस प्रकार भारत की कीमत पर ब्रिटेन दिनोदिन समृद्ध होता जा रहा था और भारत दरिद्रता के दलदल में फॅसता जा रहा था। दादा भाई नौरोजी से भी पहले भारतेन्दु जी ने इस आर्थिक शोषण का पर्दाफ़ाश किया था। उदाहरण दृष्टव्य है-

---

1- प्रताप नारायण मिश्रः संपा0 विजयशंकर मल्ल, पृ0 20

2- प्रताप नारायण ग्रन्थावलीः संपा0 विजयशंकर मल्ल, पृ0 20

"कारीगरी जिसमें तुम्हारे यहाॅ बढ़े, तुम्हारा रूपया तुम्हारे ही देश में रहे वह करो। देखो, जैसे हजार धारा होकर गंगा समुद्र में मिली है, वैसे ही तुम्हारी लक्ष्मी हजार तरह से इग्लैण्ड , फरासीस, जर्मनी, अमेरिका को जाती हैं। दीआसलाई ऐसी तुच्द् वस्तु भी वहीं से आती है।"[1]

बालकृष्ण भट्ट भी भारत की आर्थिक विपन्नता का कारण अंग्रेजों की शोषण नीति में देखते हैं-

"कहाॅ की ऐसी कामधेनु धरती है, जो अत्यन्त उर्वरा होने से कई करोड़ का धन प्रतिवर्ष उगला करती है? दो वर्ष के लिए चिउटियाॅ-दोअन बन्द हो जाय और यहाॅ का धन यहीं रहने पावे, देश सोने-चाॅदी से मढ़ जाय।"[2]

देश में औद्योगिक प्रगति तभी सम्भव थी जब बच्चों को रोजगार परक शिक्षा दी जाय। जबकि अंग्रेजों की शिक्षा नीति का उद्देश्य अपने शासन कार्य के संचालन हेतु भारतीयों को 'लिपिक' पद हेतु तैयार करना था। इस युग के लगभग सभी निबंधकारों ने इस शिक्षा नीति का प्रबल विरोध किया है। देशवासियों का आह्वान करते हुए भारतेन्दु जी कहते हैं-

"अच्छी से अच्छी उनको तालीम दो पिनसिन और वजीफा या नौकरी का भरोसा छोड़ो। लड़कों को रोजगार सिखलाओ। विलायत भेजो। छोटेपन से मिहनत करने की आदत दिलाओ।"[3]

1- भारतेन्दु समग्रः संपा0 हेमन्त शर्मा, पृ0 1013

2- भट्ट-निबंधावली (पहला भाग): संपा0 धनंजय भट्ट 'सरल' पृ0 65

3- भारतेन्दु समग्रः संपा0 हेमन्त शर्मा, पृ0 1013

पं0 प्रतापनारायण मिश्र ने भी देश की प्रगति के लिए रोजगारपरक शिक्षा पर बल दिया है-

"वरंच देश का बड़ा हित इसी में है कि सैकड़ों तरह का काम सीखो। सरटीफिकेट लिए बंगले-बंगले मारे-मारे फिरने में क्या धरा है जो सरकार को हर साल इमतिहान अधिक कठिन करने की चिन्ता में फँसाते हो। बाबूगिरी कोई स्वर्णगीरी (सोने का पहाड़) नहीं है।"[1]

भारतीय पुर्नजागरण जहाँ मुख्य रूप से शहरी मध्यवर्ग का आन्दोलन था, वहीं 19वीं शताब्दी हिन्दी निबन्धों में प्रतिबिम्बित लोकजागरण की जड़े सुदूर गावों तक फैली हुई हैं। इस युग के निबंधकारों का स्पष्ट मत है कि जब तक गावों में रहने वाली गरीब जनता की दशा में कोई सकारात्मक परिवर्तन नहीं होता है तब तक देश की प्रगति की कामना दिवास्वप्न होगा। इस युग के निबंधकार देश के आर्थिक सामाजिक विकास में दलित शोषित ग्रामीण जनता की स्पष्ट भागीदारी चाहते थे और इस प्रकार वे सही मायने में ठेठ देशी लोकजागरण की नींव रख रहे थे-

"एवं यह कहना भी अत्युक्ति न समझियेगा कि उन्हीं (ग्रामीण जनता) के बनने बिगड़ने का नाम देश का बनना बिगड़ना है। पर क्या कीजिए जो लोग देश के सुधार का बाना बाँधे हैं। वे आज तक इनके सुधारने का नाम ही नहीं लेते। नहीं तो यह लोग वे हैं जो नगर निवासियों की अपेक्षा अधिक निष्कपट, अतिशय कृतज्ञ, बड़े सहिष्णु और महादृढ़चित्त होते हैं।"[2]

आलोच्य युगीन निबंधकारों का यह स्पष्ट मत था कि भारत में लोकजागरण केवल हिन्दी भाषा के माध्यम से ही हो सकता है। इन निबंधकारों का 'स्वभाषा'

1- प्रतापनारायण ग्रन्थावली: संपा0 विजयशंकर मल्ल, पृ0 92

2- प्रतापनारायण ग्रन्थावली: संपा0 विजय शंकर मल्ल, पृ0 28।

के प्रति अपार प्रेम द्रष्टव्य है। देश और समाज की भाँति हिन्दी भाषा के प्रति भी उनकी अटूट निष्ठा थी। जैसा कि पूर्व पृष्ठों में उल्लिखित है, आलोच्य युग में हिन्दी भाषा के प्रचार का प्रश्न लेखकों के भाषानुराग के साथ ही लोकजागरण की चेतना के प्रसार से भी जुड़ा हुआ था। उनके अनुसार हिन्दी के माध्यम से ही लोकजागरण सम्भव होगा तभी देश का समग्र विकास हो सकेगा। तभी तो भारतेन्दु ही कहते हैं-

निज भाषा उन्नति अहै सब उन्नति को मूल।
बिन निज भाषा ज्ञान के कटै न हिय को सूल।।"[1]

इसी भावना को भारतेन्दु जी ने अपने बलिया वाले भाषण में भी व्यक्त किया है-

"परदेशी वस्तु और परदेशी भाषा का भरोसा मत रखो। अपने देश में अपनी भाषा में उन्नति करो।"[2]

विवेच्य युग में लोकजागरण का हिन्दी साहित्य पर व्यापक प्रभाव पड़ा। उसने मानवेतर एवं सामंती अथवा अभिजात वर्गीय शक्तियों से अपना नाता तोड़कर सामान्य इंसान से अपने रिश्ते को जोड़ा। भारतेन्दु युग के ठीक पूर्व का रीतिकालीन साहित्य लोक जीवन से पूर्णतः कटा हुआ था। रीति कवियों ने अपनी काव्यप्रतिभा केवल श्रृंगार वर्णन और राजाओं की स्तुति में ही खर्च की। भारतेन्दु तथा उनके सहयोगियों की वास्तविक महत्ता इसी बात में निहित है कि उन्होंने साहित्य को उक्त संकीर्ण सीमा के घेरे से बाहर निकाला तथा उसे सामान्य मनुष्य के जन-जीवन से जोड़ दिया। इससे साहित्य के विषय-वस्तु में काफी व्यापकता आयी। चूँकि इनकी अभिव्यक्ति केवल काव्यरूपों में ही सम्भव नहीं थी, परिणामतः हिन्दी गद्य की अनेक विधाओं का आविर्भाव हुआ। चूँकि निबंधों में शैली के आकर्षण एवं कथन की भंगिमा के वैशिष्ट्य को बनाये रखकर भी किसी विषय पर सीधे बात की जा सकती है, इसलिए इस युग में निबंध विधा को विशेष लोकप्रियता प्राप्त हुई।

1- भारतेन्दु समग्रः संपा0 हेमन्त शर्मा, पृ0 228

2- वही, पृष्ठ 1013

इस युग के निबंधकारों ने प्रायः हिन्दी गद्य की संस्कृतनिष्ठ तत्सम् प्रधान तथा अरबी-फारसी और उर्दू शब्द मिश्रित भाषाओं में मध्यमार्ग को अपनाया। उन्होंने भाषा में प्रवाह और अभिव्यक्ति को महत्व दिया। इस युग में भाषा का कोई मानक स्वरूप स्थिर नहीं हो सका, सभी निबंधकारो की भाषा पर क्षेत्रीय बोलियों का व्यापक प्रभाव परिलक्षित होता है।

इस प्रकार 19वीं शताब्दी निबंधों का लोक जागरण की दृष्टि से अध्ययन करने पर स्पष्टतः परिलक्षित होता है कि तत्कालीन निबन्ध साहित्य का योगदान अनुपमेय है। पराधीन देश की पीड़ा को वहन करते हुए तथा सम्पूर्ण राष्ट्र की चिन्ता को अपने में समेटे हुए इन निबंधों के लेखक अपने युग-परिवेश से अभिन्न रूप से जुड़े हुए थे। सामयिक , राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक, धार्मिक एवं साहित्यिक समस्याओं के प्रति इनकी सतत जागरूकता सराहनीय है। निष्कर्ष रूप से राजनीतिक दृष्टि से देश की पराधीनता की वेदना एवं स्वाधीनता की प्रबल प्रेरणा ब्रिटिश शासन की अन्याय एवं पक्षपातपूर्ण नीति के प्रति तीव्र आक्रोश , सरकारी चाटुकारों की भर्त्सना, पश्चिम के अन्धानुकरण का विरोध परन्तु अनुकरणीय उपलब्धियों को अपनाने की प्रेरणा , देश को प्रगति के पथ पर ले जाने की अदम्य लालसा, विश्व राजनीति के प्रति सजगता, पराधीन देशों के प्रति विशेष अपनत्व की भावना, साम्राज्यवादी नीति का विरोध, गौरवशाली अतीत पर गर्व और महान आदर्श चरित्रों से प्रेरणा , वैमनस्य और ईर्ष्या को त्यागकर एकता और सद्भाव का सन्देश, आर्थिक दृष्टि से देशवासियों की दुरावस्था पर क्षोभ एवं आक्रोश, आर्थिक शोषण से मुक्ति की कामना, ब्रिटिश शासन द्वारा किये जाने वाले अपव्यय का विरोध, बाढ़, अकाल, दुर्भिक्ष, महामारी से पीड़ित देशवासियों की दुर्दशा का करुण चित्रण, धन के बहिर्गमन पर आक्रोश, भारतीयों पर अधिकाधिक लगाये जाने वाले टैक्स आदि का विरोध, स्वदेशी स्वीकार एवं विदेशी बहिष्कार की प्रेरणा, देश की समृद्धि के लिए आलस्य त्यागकर जागरण एवं कर्मणता का सन्देश, सामाजिक दृष्टि से पाखण्डों, रूढ़ियों एवं कुप्रथाओं का विरोध जाति-भेद, वर्ण-व्यवस्था एवं अस्पृश्यता का विरोध, बाल-विवाह, वृद्ध-विवाह एवं अनमेल-विवाह का विरोध, कन्याओं की उपेक्षा, परदा, दहेज एवं सती-प्रथा का विरोध, शादी-व्याह आदि अवसरों पर किये

जाने वाले अपव्यय का विरोध, पश्चिम के अनुकरण पर फैशन आदि का विरोध, मद्यपान एवं वेश्या गमन का विरोध, अन्तर्जातीय एवं विधवा-विवाह, स्त्री-शिक्षा एवं नारी-स्वातन्त्र्य का समर्थन, व्यापक शिक्षा के प्रचार एवं स्वस्थ समुन्नत समाज की स्थापना का संदेश, धार्मिक दृष्टि से कुरीतियों, मिथ्याडम्बरों एवं जर्जर संस्कारों को त्यागकर समाज एवं राष्ट्र के लिए हितकारी धार्मिक भावनाओं के प्रसार का सन्देश, साहित्यिक दृष्टि से स्वभाषा हिन्दी के व्यापक प्रचार-प्रसार के लिए सर्वस्व अर्पित कर देने का सन्देश आदि विवेच्य युगीन निबंध-साहित्य के माध्यम से उद्घोषित होने वाले प्रमुख स्वर थे जिन्होंने हिन्दी प्रदेश में लोकजागरण की चेतना को साकार करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई।

इस प्रकार 19वीं शताब्दी के निबंधकारों के सन्दर्भ में अत्यन्त सम्मान के साथ कहा जा सकता है कि देश की परतंत्र परिस्थिति में लेखकों ने अपने उत्तरदायित्व को भली-भाँति पहचाना है। अपनी भाषा, साहित्य, समाज, संस्कृति एवं राष्ट्र के प्रति उनकी अपूर्व निष्ठा अभिनन्दनीय है। उन्हेंाने "भारतवर्ष की उन्नति किस प्रकार हो, दशोद्धार, कौमी तरक्की, देशोन्नति, देशोत्थान, भारतखण्ड की समृद्धि आदि निबंध ही नहीं लिखे अपितु इनके लिए उनका जीवन और लेखन समर्पित था आज आधुनिक भारत में ज्ञान-विज्ञान , औद्योगिक प्रगति, धर्मनिरपेक्ष राष्ट्रीयता, तर्क, विवेक एवं मानवतावादी चिन्तन का जो स्वरूप दृश्यमान है उसे विनिर्मित करने में इस गद्य-विधा विशेष का अप्रतिम योगदान रहा है। निस्सन्देह 19वीं शताब्दी के निबंध हिन्दी साहित्य ही नहीं अपितु भारतीय स्वातंत्र्य-संग्राम की भी अमूल्य धरोहर हैं।

****

सहायक ग्रन्थ सूची

1- आधुनिक भारत का इतिहास : बी0एल0 ग्रोवर, यशपाल प्रकाशक: एस0 चन्द्र एण्ड कम्पनी लि0, नई दिल्ली संस्करण: आठवाँ संस्करण 1992

2- आधुनिक भारत का इतिहास : प्रो0 राम लखन शुक्ल प्रकाशक: हिन्दी माध्यम कार्यान्वयन निदेशालय, दिल्ली विश्वविद्यालय संस्करण: प्रथम संस्करण, पुर्नमुद्रण: 1990

3- आधुनिक हिन्दी साहित्य : डा0 लक्ष्मी सागर वार्ष्णेय

4- आचार्य राम चन्द्र शुक्ल और हिन्दी आलोचना: डा0 राम विलास शर्मा प्रकाशक: राजकमल प्रकाशक प्रा0 लि0, नई दिल्ली, संस्करण: पहला पेपर बैक संस्करण, 1993

5- कबीर ग्रन्थावली : संपा0 श्याम सुन्दर दास प्रकाशक : नागरी प्रचरिणी सभा, काशी संस्करण: प्रन्द्रहवाँ संस्करण सं0 204। वि0

6- कबीर (साहित्य और संवेदना) : संपा0 डा0 वासुदेव सिंह प्रकाशक: अभिव्यक्ति प्रकाशन, इलाहाबाद संस्करण: प्रथम संस्करण।

7- कवितावली : तुलसीदास प्रकाशक: लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, 1973

8- गाँधी, टैगोर और नेहरू : प्रो0 जे0एल0 काचरू

9- गोस्वामी तुलसी दास : आचार्य रामचन्द्र शुक्ल प्रकाशक: नागरी प्रचारिणी सभा काशी, संस्करण: द्वादश सं0 2040 वि0

10- ज्योतिबा फुले: दुर्गा प्रसाद शुक्ल प्रकाशक: एन0सी0ई0आर0टी0

11- दूसरी परम्परा की खोज: डा0 नामवर सिंह प्रकाशक: राजकमल प्रकाशन प्रा0लि0 संस्करण, पहला पेपर बैक्स संस्करण: 1983

12- नई कविता का आत्म संघर्ष और अन्य निबंधः मुक्तिबोध

13- प्रताप नारायण ग्रन्थावली : संपा0 विजयशंकर मल्ल प्रकाशकः नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, संस्करणः नवीन संस्करण सं0 2049 वि0

14- प्रेमघन सर्वस्व (द्वितीय भाग): संपा0 प्रभाकेश्वर प्रसाद उपाध्याय, दिनेश नारायण उपाध्याय, प्रकाशकः हिन्दी साहित्य सम्मेलन प्रयाग, संस्करणः सं0 2007 वि0

15- बालकृष्ण भट्ट के निबंधों का संग्रहः संपा0 लक्ष्मी शंकर व्यास

16- बाल मुकुन्द गुप्त के श्रेष्ठ निबंध, चिट्ठें और खत

17- भक्तिकाल के सामाजिक आयामः डॉ0 लक्ष्मी नारायण वर्मा

18- भारतीय चिन्तन परम्पराः के0 दामोदरन संस्करणः तीसरा संस्करण

19- भारत का वृहत् इतिहासः दत्त, मजूमदार, राय चौधुरी (तृतीय भाग) प्रकाशकः मैकमिलन इण्डिया लि0 संस्करणः तृतीय पुर्नमुद्रित संस्करण, 1989

20- भारतीय राष्ट्रवाद की सामाजिक पृष्ठ भूमिः ए0आर0 देसाई, प्रकाशकः मैकमिलन इण्डिया लि0 संस्करणः द्वितीय हिन्दी संस्करण पुर्नमुद्रण, 1988

21- भारतीय स्वतंत्रता संग्राम और हिन्दी पत्रकारिताः डा0 वंशीधर लाल प्रकाशकः बिहार ग्रन्थ कुटीर, पटना संस्करणः प्रथम, 1989

22- भारतेन्दु हरिश्चन्द्र और हिन्दी नवजागरण की समस्याऍः डॉ0 राम विलास शर्मा प्रकाशक (राजकमल प्रकाश प्रा0 लि0 संस्करणः तृतीय संस्करण 1984

23- भारतेन्दु और भारतीय नवजागरणः संपा0 शंभुनाथ, अशोक जोशी प्रकाशकः आने वाला कल प्रिकाशन कलकत्ता संस्करणः प्रथम संस्करण, 1986

24- भारतेन्दु समग्रः संपा0 हेमन्त शर्मा, प्रकाशकः प्रचारक ग्रन्थावली परियोजना, हिन्दी प्रचारक संस्थान, पिशाचमोचन, वाराणसी संस्करणः तृतीय, जनवरी 1989

25- भारतेन्दु युगः डॉ0 रामविलास शर्मा

26- भारतेन्दु युगीन साहित्य में राष्ट्रीय भावनाः पुष्पा थरेजा

27- भारतेन्दु कालीन हिन्दी साहित्य की सांस्कृतिक पृष्ठभूमिः डॉ0 कमला कानोड़िया, प्रकाशकः विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी संस्करणः प्रथम संस्करण 1971 ई0

28- भारतेन्दु हरिश्चन्द्रः डॉ0 लक्ष्मी सागर वार्ष्णेय

29- भारतेन्दु कालीन व्यंग्य परम्पराः ब्रजेन्द्र नाथ पाण्डेय

30- भारतेन्दु मण्डलः ब्रजरत्न दास

31- भारतेन्दु युगीन निबंधः शिवनाथ

32- भारतेन्दु युग और हिन्दी भाषा की विकास परम्पराः डा0 राम विलास शर्मा, प्रकाशक : राजकमल प्रकाश प्रा0 लि0, संस्करणः प्रथम संस्करण, 1975

33- भारतेन्दु हरिश्चन्द्र और उनके युग की हिन्दी कविताः डा0 शोभा नाथ राय भट्ट प्रकाशकः अरुण प्रकाशन, बम्बई, संस्करणः प्रथम संस्करण

34- भट्ट निबंधावली (पहला भाग) संपा0 धनंजय भट्ट 'सरल' देवी दत्त शुक्ल प्रकाशकः हिन्दी साहित्य सम्मेलन प्रयाग संस्करणः नवाँ 1994 ई0

35- भट्ट निबंधमाला (द्वितीय भाग): संपा0 धनंजय भट्ट 'सरल'

36- महावीर प्रसाद द्विवेदी और हिन्दी नवजागरण: डा0 राम विलास शर्मा,
प्रकाशक: राजकमल प्रकाशन प्रा0लि0 नई दिल्ली
संस्करण: प्रथम संस्करण, 1977

37- मध्यकालीन धर्म साधना: आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी, इलाहाबाद 1952

38- यमलोक की यात्रा : राधाचरण गोस्वामी

39- राधाकृष्ण ग्रन्थावली

40- राधाचरण गोस्वामी की चुनी रचनाएँ: संपा0 कर्मेन्दु, प्रथम संस्करण, 1990 ई0

41- लोकजागरण और हिन्दी साहित्य: संपा0 डा0 राम विलास शर्मा, प्रकाशक: वाणी
प्रकाशन संस्करण: प्रथम संस्करण, 1985

42- विचार एवं वितर्क: डा0 हजारी प्रसाद द्विवेदी , 1954 (नवीन संस्करण)

43- विश्व हिन्दी शब्द कोष: डा0 धीरेन्द्र वर्मा

44- सिद्धान्त कौमुदी: प्रकाशक वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई, 1989

45- साहित्य और इतिहास दृष्टि. डा0 मैनेजर पाण्डेय

46- शिवशम्भु के चिट्ठे, आशा का अंत: बाबू बाल मुकुन्द गुप्त

47- हिन्दी कविता की प्रगतिशील भूमिका: संपा0 प्रभाकर श्रोत्रिय, प्रथम संस्करण, 1978

48- हिन्दी साहित्य का इतिहास: आचार्य राम चन्द्र शुक्ल प्रकाशक: नागरी प्रचारिणी सभा,
काशी संस्करण: उनतीसवॉं संस्करण सं0 2051 वि0

49- हिन्दी साहित्य का इतिहास: संपा0 डा0 नगेन्द्र प्रकाशक: नेशनल पब्लिशिंग हाउस,
नई दिल्ली, संस्करण: 1986

50- हिन्दी साहित्य: उद्भव और विकास: आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी।

51- हिन्दी साहित्य की भूमिका: आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी , प्रकाशक: राजकमल प्रकाशन प्रा0लि0, नई दिल्ली, संस्करण 1991

52- हिन्दी साहित्य का दूसरा इतिहास: डा0 बच्चन सिंह प्रकाशक: राधाकृष्ण प्रकाशक लि0 नई दिल्ली, संस्करण: पहली आवृत्ति: 1997

53- हिन्दी साहित्य का वृहत् इतिहास (अष्टम् भाग): संपा0 विनय मोहन शर्मा प्रकाशक: नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, संस्करण: प्रथम संस्करण सं0 2029 वि0

54- हिन्दी साहित्य और संवेदना का विकास: प्रो0 रामस्वरूप चतुर्वेदी प्रकाशक: लोकभारती प्रकाशन, इला0, संस्करण: द्वितीय संस्करण, पुर्नमुद्रण, 1993

55- हिन्दी भाषा और साहित्य का विकास: हरिऔध, वि0सं0 1997

56- हिन्दी निबन्धकार: डा0 जयनाथ नलिन

57- हिन्दी के गद्यकार और उनकी शैलियाँ: रामगोपाल सिंह चौहान

58- हिस्ट्री ऑफ बंगाल सूबा: सर यदुनाथ सरकार

59- ऋग्वेद

60- श्रीमद् भगवद् गीता प्रकाशक: श्री दुर्गा पुस्तक भण्डार, इलाहाबाद

61- श्री निवास ग्रन्थावली: संपा0 डॉ0 श्रीकृष्ण लाल प्रकाशक: नागरी प्रचारिणी सभा, काशी संस्करण: प्रथम संस्करण सं0 2010 वि0

62- हिन्दी की दशा और पत्रकारिता: संपा0 धनंजय भट्ट 'सरल' प्रकाशक: हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, संस्करण: प्रथम, 1983 ई0

पत्र-पत्रिकाएँ

1- नागरी प्रचारिणी पत्रिका (भारतेन्दु विशेषांक) वर्ष 55 संवत् 2007

2- नागरी पत्रिका: प्रकाशक नागरी प्रचारिणी सभा, काशी

3- भाषा द्वै मासिक: प्रकाशक: केन्द्रीय हिन्दी निदेशालय, राम कृष्णपुरम्, नई दिल्ली

4- आलोचना त्रैमासिक: संपा0 डा0 नामवर सिंह

5- हिन्दी प्रदीप

6- हरिश्चन्द्र चन्द्रिका

7- सार सुधा निधि

8- भारत जीवन (पत्र)